४१

हिंदी

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का इकतालीसवाँ पुष्प

हिंदी

लेखक
स्व० बदरीनाथ भट्ट बी० ए०
[दुर्गावती, बाल-नीति-कथा, विवाह-विज्ञापन, लबड़धोंधों आदि के रचयिता]

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

षष्ठावृत्ति

सजिल्द १॥)] सन् १९४१ [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

1. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. प्रयाग-ग्रंथागार, 1, जॉंसटनगंज, प्रयाग
3. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
4. लखनऊ-ग्रंथागार, लखनऊ
5. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
6. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
7. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
8. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
9. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

संसार में प्रत्येक भाषा का विकास, मुख्य रूप से, किसी एक भाषा से हुआ करता है ; परंतु विकास होते-होते पड़ोस की दूसरी भाषाओं तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों का उस पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ जाता है कि शारीरिक गठन में माता से बहुत कुछ ममता रखती हुई भी मुखाकृति में वह भिन्न दिखलाई देने लगती है। प्रत्येक भाषा के विकास-क्रम में एक संधि-काल आता है, जब माता और पुत्री का अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाता है। पुष्प और चंद के बीच की कितनी ही रचनाएँ ऐसी हैं, जिनके विषय में निश्चयपूर्वक यह कह सकना कठिन है कि ये अपभ्रंश की हैं या पुरानी हिंदी की। ये संधि-काल की रचनाएँ हैं, जब अपभ्रंश हिंदी का रूप धारण कर रही थी। हिंदी की कितनी ही रचना ऐसी हैं, जो अपभ्रंश की रचना के साथ रख दी जाय, तो उसमें बिलकुल खप जायगी ; इस प्रकार अपभ्रंश की भी कितनी ही रचना पुरानी हिंदी में खप जाती है। अपभ्रंश की प्रणाली निश्चित हो चुकी थी ; उसी पर से हिंदी-प्रणाली का जन्म हो गया था—दोनो में बहुत कम भेद है ; एक, पुनर्जन्म लेकर, दूसरी का रूप धारण कर रही थी।

भाषा का विकास बहुत दिनों के लगातार परिवर्तन का परिणाम हुआ करता है। कब, किस समय, किस ओर से, किस प्रकार के प्रभाव पड़ने से भाषा में कौन-सी नई बात आ गई, जो उसकी जननी में नहीं थी, अथवा कौन-सा परिवर्तन हो गया, इसका लेखा न तो है और न हो सकता। अतएव जब हम किसी भाषा के स्रोत की खोज करने बैठते हैं, तो हमें अनुमान के दीपक का सहारा लेना पड़ता है। यह दीपक सर्वथा विश्वसनीय नहीं होता। इसलिये मैं यह नहीं कह

सकता कि इस दीपक ने मुझे कहीं भी धोखा नहीं दिया होगा। संभव है, जिन परिणामों पर मैं या वे लोग पहुँचे हैं, जिनके ग्रंथों या लेखों के आधार पर मैं यह पुस्तक लिखने बैठा हूँ, वे ठीक न हों। प्राकृत से संस्कृत निकली, या संस्कृत से प्राकृत, इस विषय पर पहले जैसा ही मतभेद बना हुआ है। मेरी मति या रुचि जिस ओर मुझे खींच ले गई, उसी ओर मैं हो गया। संभव है, वह भ्रांत हो; किंतु जब तक यह बात, हठधर्मी, दुराग्रह तथा अंधभक्ति छोड़कर, अकाट्य रूप से सिद्ध नहीं कर दी जायगी, तब तक कोई भी अपना मत बदलने के लिये बाध्य न होगा।

प्रस्तुत पुस्तक सन् १९४२ ईसवी में लिखी गई थी। हिंदी-भाषा तथा उसके साहित्य से परिचय प्राप्त करने के लिये बड़ी-बड़ी पुस्तकों के पढ़ने का समय जिन सज्जनों के पास नहीं है, विशेषकर उन्हीं के लिये वह प्रयास किया गया है। पुस्तक बहुत छोटी है, और बहुत-सी बातें इसमें कहने को रह गई हैं, परंतु यह एक विशेष लक्ष्य को सामने रखकर लिखी गई है। इसके लिखने में मैंने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की रिपोर्टों, मिश्रबंधु-विनोद, शिवसिंह-सरोज तथा उस समय तक और भी जो पुस्तकें मेरे पास थीं, उन सबका सहारा लिया है, इसलिये उन सबके लेखकों का मैं ऋणी हूँ। इधर हिंदी के परम हितैषी रेवरेंड मि० ग्रीव्ज की एक छोटी-सी, किंतु बड़ी अच्छी, पुस्तक इस विषय पर, अँगरेज़ी में, प्रकाशित हुई है। खेद है, जिस समय मैं इस पुस्तक को लिखने बैठा, उस समय तक वह प्रकाशित नहीं हुई थी, कम-से-कम मेरे देखने में नहीं आई थी, वरना मैं उससे भी अवश्य लाभ उठाता। परंतु तो भी मुझे यह देखकर संतोष होता है कि उनके और मेरे विचार प्रायः मिलते हैं।

लखनऊ
२७।९।२१

बदरीनाथ भट्ट

तीसरी आवृत्ति की भूमिका

'हिंदी' की तीसरी आवृत्ति पाठकों के सामने है। हिंदी-संसार इसको इतना पसंद करेगा, यह बात जब यह पुस्तक पहलेपहल लिखी गई थी, तब मैंने नहीं सोची थी। मैं यही समझता था कि यह प्रकाशन की आलमारियों की शोभा बढ़ावेगी, और दीमकों की क्षुधा-शांत करेगी। यही कारण था कि इसकी कापी तीन वर्ष तक मेरे पास यों ही पड़ी रही। इसके प्रकाशन के बाद गुण-ग्राही साहित्यकारों ने जो मुझे प्रोत्साहन दिया, उससे मुझे बड़ी शांति मिली। समालोचकों और विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की हो, केवल यही बात नहीं हुई, प्रत्युत यहाँ तक हुआ कि लोगों ने इसमें से मसाला लेकर अपनी पुस्तकों में भर दिया; यहाँ तक कि एक परम प्रसिद्ध विद्वान् ने इसकी हिंदी की उत्पत्ति-संबंधी बातें, सभापति की हैसियत से, एक बड़ी सभा में दिए गए अपने व्याख्यान में, इस ढंग से रख दीं, मानो जन्म-भर के परिश्रम से वह इन बातों को खोज सके हैं, और अब नम्रता और संकोच-पूर्वक हिंदी-संसार के सामने रख रहे हैं। उनकी इस चोरी को कुछ अति-विज्ञ संपादकों ने मौलिकता की उपाधि भी दे दी! इन सब बातों से मैं यह समझ गया कि इस पुस्तक के लिखने में जो परिश्रम मैंने किया, वह व्यर्थ नहीं गया; और डॉ० ग्रियर्सन, स्व० गुलेरीजी आदि विद्वानों के मतों का जो खंडन पहलेपहल मैंने इस पुस्तक में किया, उसे लोग मान गए, और स्वयं उसका श्रेय लेने के अनेक उपाय करने लगे। मेरे लिये इससे बढ़कर संतोष की बात और क्या हो सकती है?

किसी भाषा की उत्पत्ति और व्यापकता तथा सत्ता खोज करने के लिये तन्मयता की आवश्यकता है। विदेशी विद्वानों के अधकचरे

अनुसंधानों के भरोसे, या कोई भाषा जहाँ बोली जाती है, वहाँ दो-चार दिन ठहरकर यदि उस भाषा की उत्पत्ति बतलाई जासके, या उसका इतिहास लिखा जा सके, तो सचमुच बड़ी सरलता हो जाय। आजकल बहुत-से विद्वान् ऐसा ही कर रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि खड़ी बोली के विषय में भ्रांतियों की झड़ी लग गई है। मेरा बहुत दिनों से विचार है कि खड़ी बोली पर एक पुस्तक लिखकर देशी और विदेशी विद्वानों, जिज्ञासुओं, विद्यार्थियों और चलते-पुर्ज़ों की भ्रांत धारणाएँ दूर करने का प्रयत्न करूँ। इस ढंग के काम में जो परिश्रम पड़ता है, वह भारी है, और जो पुरस्कार मिलता है, वह है बहुत कम रुपया, मनमुटाव, गालियाँ और चोरी। अतएव अब तक मैंने इसको हाथ में नहीं लिया है। पर मेरा विचार है अवश्य कि हिंदी-संसार में खड़ी बोली के विषय में जो अद्भुत सम्मतियाँ दी जा रही हैं, उनके ऊपर कुछ लिखा जाय। पाठकों का आशीर्वाद हुआ, तो ऐसा हो जायगा।

१७। ८। ३१ } बदरीनाथ भट्ट

सूची

हिंदी

१. हिंदी की उत्पत्ति

शब्द-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमको अपनी पुरानी भाषा और दूसरे देशों की पुरानी भाषाओं के शब्दों में जो समता दिखलाई देती है, उससे यही अनुमान होता है कि कभी हममें और उन कुछ जातियों में, जो अब हमारी दृष्टि में बिलकुल हमसे भिन्न हैं, घना संपर्क था, और इस शब्द-संपत्ति पर सबका समान अधिकार था। नित्यप्रति व्यवहार में आनेवाले माता, पिता, स्वसा, दुहितृ, और, गिनती के, एक, दो, तीन, चार आदि शब्द ही नहीं, कितने ही और शब्द भी ऊपर कहे हुए अनुमान की पुष्टि करते हैं। संस्कृत में एक क्रिया का रूप है 'भरति'। ग्रीक का 'फेराइ' (pherei), लैटिन का 'फ़र्ट' (fert), गॉथिक का 'बरिथ' (bairith) और अँगरेज़ी का 'बेयरथ' (beareth) भी वही अर्थ देता है। संस्कृत में जिसको 'हृद्' कहते हैं, उसी को ग्रीक में ('ह' का 'क' हो जाने के कारण) 'कर्दिआ' (kardia), लैटिन में 'कार्डिस' (cordis), गॉथिक में 'हार्टो' (hearto), अँगरेज़ी में 'हार्ट' (heart) और जर्मन में 'हॅर्ट्स' (herz) कहा जाता

है। संस्कृत में जिसको 'हंस' कहा जाता है, उसी को ग्रीक में 'चैन' (chen), लैटिन में 'हैंसर' (hanser), ऐंग्लो-सैक्सन में 'गोस' (gos), अँगरेज़ी में 'गूज़' (goose), और जर्मन में 'गॅन्स' (gans) कहते हैं। इस प्रकार अर्थ और ध्वनि की समता रखनेवाले अनेक शब्द, शब्द-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने, खोज निकाले हैं।

यद्यपि आर्यों के आदिम निवास-स्थान के विषय में अभी मतभेद बना हुआ है, किंतु यदि बहुमत पर ध्यान दिया जाय, तो यह स्थान मध्य-एशिया के आस-पास कहीं ठहरता है। संभव है, यह मध्य-एशिया के आस-पास न होकर और ही कहीं रहा हो, और वहाँ से फिर यह जाति मध्य-एशिया में आई हो, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि पीछे से वहाँ इस जाति की दो शाखाएँ हो गईं। कुछ लोग पश्चिम की ओर बढ़कर योरप में बसे, और कुछ पूर्व की ओर बढ़कर दो जथों में बँट गए। एक जथे ने फ़ारस तथा आस-पास के देशों में डेरा डाल दिया, और दूसरा और भी आगे बढ़कर भारतवर्ष में बस गया। धीरे-धीरे और भी लोग आते गए, और बढ़ते-बढ़ाते विंध्याचल की तलहटी तक जा पहुँचे। आजकल 'आर्यावर्त' शब्द संपूर्ण भारतवर्ष के लिये प्रयुक्त किया जाता है; परंतु पहले यह बात नहीं थी। पहले हिमालय तथा विंध्याचल के बीचवाले देश को ही यह नाम दिया गया था। व्याडि ने लिखा है—

"आसमुद्राच्च वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्;
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये आर्यावर्तं विदुर्बुधाः।"

आर्यों के फ़ारिसवाले उपनिवेश में परजिक और मीडिक भाषाओं का विकास हुआ। भारतवर्ष में अड्डा जमानेवाली शाखा की सबसे पहली भाषा, जिसका पता चलता है, ऋग्वेद की भाषा है। पारसियों का धर्म-ग्रंथ 'अवस्ता' मीडिक भाषा में है। यह मीडिक भाषा यहाँ की प्राचीन भाषा से कितनी समता रखती है, इसका कुछ नमूना यहाँ दिखाना अनुचित न होगा। वैदिक शब्द 'मित्र' को अवस्ता में 'मिथ्र', अर्यमन् को 'एर्यमन', 'वायु' को 'वयु' और 'मंत्र' को 'मंथ्र' कहा गया है। वैदिक शब्द 'नर' अवस्ता में 'नरेम', 'देव' शब्द 'दएव', 'शत' शब्द 'सत' और 'पशु' शब्द 'पसु' रूप में देखा जाता है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनका रूप तनिक भी बदला हुआ दिखलाई नहीं देता, जैसे गाथा, मे, मम, त्वम्, अस्ति आदि। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है कि वैदिक तथा मीडिक भाषाओं से पहले कोई एक भाषा और थी, जो इनकी तथा इनकी योरपियन बहनों की जननी थी। योरपियन भाषाओं से हमारा तात्पर्य उन अपभ्रंश भाषाओं से है, जिनका, मूल भाषाओं से अलग होने पर, स्वतंत्र विकास योरप के अलग-अलग भागों में अलग-अलग हुआ। तात्पर्य यह कि मीडिक तथा वैदिक भाषा को भी उसी मूल भाषा का अपभ्रंश समझना चाहिए।

वेद की ऋचाओं से इस बात का पता लगता है कि प्राचीन आर्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता तथा वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखते थे। वे विद्वान् ही न थे, किसान और शिल्प विद्याविशारद—कारीगर—भी थे। वे तरह-तरह के यंत्र बनाते थे, युद्ध करते थे और कविता भी करते थे। अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जो काम जिसको रुचता था, उसी काम को वह करता था। परंतु यह कब संभव है कि पंडितों और किसानों की बोली सदा, अथवा बहुत काल तक, एक रह सके! आज भी पढ़े-लिखे और बेपढ़े लोगों की भाषा में उनकी शिक्षा, अशिक्षा, कुशिक्षा अथवा संगति और देश-काल के अनुसार भेद दिखलाई देता है। प्रकृति का जो नियम अब है, वही पहले भी था। आजकल जिन देशों में शिक्षा का समुचित रूप से प्रचार है, उनमें भी शिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित तथा अशिक्षित जन-समूहों की बोलचाल की भाषा में भेद दिखलाई देता है। अस्तु। उस वैदिक भाषा के, जिसे लोग बोलचाल के भी काम में लाते थे, शीघ्र ही दो रूप हो गए—एक तो वह, जिसका विकास पढ़े-लिखे विद्वानों में हुआ; और दूसरा वह, जो अपढ़ जनों में प्रचलित रहा। विद्वानों में जिस रूप का विकास अथवा अंत में जिसकी स्थिति हुई, वह भी वैदिक भाषा से कुछ भिन्नता रखने लगा। यदि वैदिक भाषा में 'विप्रासः' और 'विप्राः', 'देवासः' और 'देवाः' इस प्रकार के दोनो रूप प्रचलित थे, तो विद्वानों

की भाषा में केवल 'विप्राः' और 'देवाः' रूप ही रह गए। यह सब उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार हिंदी-क्रियाओं के 'जाय है', 'जाता है'-सरीखे दो रूपों में से केवल 'जाता है' -सरीखे रूप ही रह गए हैं। यों धीरे-धीरे कई प्रकार के भेद पड़ते गए, और लौकिक तथा वैदिक भाषा के, एक के पीछे दूसरा, यों कितने ही छोटे-बड़े व्याकरण भी बन गए, जैसे कि ब्राह्म, ऐशान, ऐंद्र, प्राजापत्य, आपिशल, पाणिनीय, चांद्र, शाकटायन आदि। इन व्याकरणों का ताला लगाकर उस समय के विद्वानों ने वैदिक तथा अपनी संस्कार की हुई भाषा को तंग कोठरियों में बंद कर दिया, जिसमें उनको परिवर्तन की छूत न लगने पाए। पाणिनि ने 'लोके वेदे च' कहकर वैदिक तथा लौकिक भाषा का पार्थक्य स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। किंतु भाषा को क्षयी और मृत्यु से बचाने की जगह इस व्याकरण-रूपी संजीवनी बूटी ने ठीक उल्टा असर दिखाया, जैसा कि कालांतर में ज्ञात हुआ; अर्थात् दोनो भाषाओं की गति सीमा-बद्ध हो गई। भाषा को अछूता रखने की चिंता करनेवाले विद्वान् केवल व्याकरण बनाकर ही चुप नहीं रहे। भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों से जब आर्यों का व्यापारिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संपर्क बढ़ा, तब दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपने घर में घुसता देखकर उन प्राचीनता-प्रिय आर्य-विद्वानों ने रोक-थाम करने की और भी चेष्टाएँ कीं। विदेशी भाषाओं को 'यावनी' अथवा 'म्लेच्छ' भाषाएँ बतलाकर

उनको न पढ़ने तक का आदेश दिया। इस प्रकार अपनी समझ में मजबूत-से-मजबूत ताला लगाकर विद्वज्जन अपने घर के भीतर बैठे-बैठे लौकिक तथा वैदिक संस्कृत के साथ चौसर खेला किए। इधर जन-समुदाय की जो भाषा थी, वह चारो ओर से घिरे हुए सरोवर की भाँति न होकर स्वच्छंदचारिणी नदी की भाँति थी। इस भाषा ने, जिसे वैदिक काल के पीछे की प्राकृत कह सकते हैं, आवश्यकतानुसार अपनी शब्द-सृष्टि की वृद्धि की। यों इसका विकास बेरोक होता चला गया। प्राकृत में जिस प्रकार से शब्दों के परिवर्तन हुए, उसके कुछ उदाहरण देते हुए यहाँ हम संस्कृत से उसका भेद स्पष्ट करते हैं। साथ ही यह दिखलाने के लिये कि आधुनिक हिंदी पर संस्कृत का कितना प्रभाव पड़ा है, हिंदी शब्द भी दिए देते हैं—

संस्कृत	प्राकृत	आधुनिक हिंदी
सिंहः	सीहो, सिंघो	सिंह
गर्दभः	गड्डहो, गद्दहो	गदहा, गधा
गोपालः	गोवालो	ग्वाल
साधुकारः	साहुगारो	साहूकार
स्कंधः	खंधो	कंधा
तापः	तावो	ताप, ताव
वृद्धः	बूढ़ो	बुड्ढा या बूढ़ा
पितृगृहः	पिउहर	पीहर
वृश्चिकः	विंछुऊ	बिच्छू या बीछू

अब क्रियाओं की बानगी देखिए—

संस्कृत	प्राकृत	पुरानी हिंदी	आधुनिक हिंदी
हसति	हसइ	हँसइ हँसै	हँसे
कंपते	कँपइ	कँपइ, कँप	कँपे, काँपे
युध्यते	जुझइ	जुज्झइ, जूझइ	जूझै, जूझे
रक्षति	रक्खइ	रक्खइ, राखै,	रक्खै, रक्खे

(मध्य-प्रदेश के लेखक 'रखे' लिखते हैं।)

कुछ और भी सही—

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी
सपादद्वे	सवादो	सवादो
सपादत्रीणि	सवातीणि	सवातीन

(ऊपर के उदाहरणों में से 'सिंह', 'कंधा' और 'ताप' स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि यद्यपि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश से है, तो भी संस्कृत द्वारा उसकी पुष्टि होती रही है।)

अशिक्षा, अनभ्यास, जिह्वा-दोष, त्वरा अर्थात् जल्दबाजी आदि कारणों से उत्पन्न 'एक-एक' का 'एकैक', 'है हो' का 'हई', 'हरएक' का 'हरेक', 'रोवो', 'होवो' आदि के 'रो', 'हो', 'होऊँ' का 'हूँ' आदि रूप हिंदी में प्रचलित हो गए हैं, और बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा ठीक माने जाते हैं। हमारे देखते-देखते 'तौ' का 'तो' हो गया है। दो बार किसी शब्द को लिखने की आवश्यकता पड़ती थी, तो दो का अंक (२) लिखकर काम निकाल लिया जाता था। यह प्रथा बड़ी पुरानी थी। किंतु यह

भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। कुछ दिनों बाद यह दो का अंक बिलकुल ही न दिखाई देगा। इधर शब्द-शुद्धि के कुछ पक्षपातियों ने 'राजनैतिक' को 'राजनीतिक' करके एकेक, हरेक आदि को एक-एक, हरएक आदि रूप में फिर लिखना प्रारंभ कर दिया है; क्योंकि 'एकेक', 'हरेक', 'राजनैतिक' आदि शब्द संस्कृत-व्याकरण के अनुसार शुद्ध नहीं हैं। हमारे विचार में इन शब्दों का रूप-परिवर्तन फ़ारसी-लिपि में लिखनेवालों की कृपा से हुआ था। अस्तु। संस्कृत-व्याकरण का अनुसरण करनेवालों ने 'सामर्थ्य' शब्द को, जो हिंदी में स्त्रीलिंग समझा जाता था, पुंलिंग बना डाला है। यह शब्द त्रिशंकु की भाँति लटक रहा है, और दोनो लिंगों में इसका व्यवहार होने लगा है। इन्हीं सब बातों से प्रमाणित होता है कि हिंदी-भाषा एक जीवित भाषा है। मधुपुरी=मधुरा=मथुरा; वाराणसी=बनारस आदि भी इसी प्रकार के परिवर्तन के साक्षी हैं। 'मथुरा' को 'मट्रा', 'कलकत्ते' को 'कैलकटा' कहना देश-भेदजन्य जिह्वा-दोष का प्रत्यक्ष उदाहरण है। सदा से ही शब्दों का रूप इसी प्रकार बिगड़ता अथवा बदलता रहा है। यह रोग बड़ा पुराना है। इसकी रोक-थाम करने के लिये 'स्फोटकचंद्रिका' में लिखा है कि असाधु शब्द बोलने से पाप और साधु शब्द बोलने से पुण्य होता है। यही नहीं, एक बार ऐसा भी हुआ कि 'हेरयः हेरयः' की जगह 'हेलयः हेलयः' कहने के कारण ही दैत्यों को युद्ध में देवों से हारना पड़ा

(दैत्येयैर्हेरयो हेरय इति वक्तव्ये हेलयो हेलय इति प्रयुञ्जानाः पराबभूवुः)! इंद्र को मारने के लिये त्वष्ट्रा ने वृत्रासुर की सृष्टि की थी, किंतु उसको आशीर्वाद देते समय उसने 'इंद्रशत्रो विवर्द्धस्व' को तत्पुरुष की जगह कहीं बहुव्रीहि के ढंग से कह दिया। बस, पाँसा पलट गया—उलटा बेचारा वृत्रासुर इंद्र के हाथ से मारा गया। प्राचीन आर्य-विद्वानों ने अपभ्रंशों से घबड़ाकर ऐसी-ऐसी बातें कही हैं, जिनसे यही अनुमान होता है कि उस समय भी कई बार भाषा-संबंधी क्रांतियाँ हुईं, और तरह-तरह की कितनी ही रोक-थाम करने पर भी न केवल लोक-भाषा का परिवर्तनशील प्रवाह ही न रुका, बल्कि सात तालों में बंद की गई संस्कृत-भाषा में भी बाहर के कितने ही शब्द आते रहे, और आज भी—जब कि संस्कृत को मृत भाषा समझा जा रहा है—आवश्यकतानुसार आते रहते हैं। फ़ुटबाल, बेतार की तारबर्क़ी, गैस आदि के लिये नए शब्द गढ़ना व्यर्थ क्लिष्ट-कल्पना करना है।

दूसरे देशों की भाषाए न पढ़ने का जो उपदेश पहले दिया गया था, उसका भी वही परिणाम हुआ, जो अँगरेज़ी शासन के प्रारंभिक काल में अँगरेज़ी-भाषा के प्रति, अथवा पहले-पहल जब पानी के लिये नल लगाए गए, तब उनके प्रति घृणा करने का हुआ था; अर्थात् सर्वसाधारण ने विरोधियों की बात न मानी, और निषेधों का विचार न करके लोग अन्य देशों की भाषाएँ पढ़ते रहे। यदि ऐसा न किया जाता, तो राज

धर्म और व्यापार कैसे चलता ? महाभारत में हम पढ़ते हैं कि लाक्षागृह के विषय में सचेत करते समय विदुर ने युधिष्ठिर से म्लेच्छ-भाषा में संभाषण किया है। तात्पर्य यह कि हज़ार रोक-थाम करने पर भी भाषाओं का प्रभाव एक दूसरी पर पड़ ही जाता है। इस भाषा-संघर्ष के समय कितने ही शब्द अपना देश छोड़कर दूसरी जगह जा बसते हैं; कुछ दोनो देशों में अड्डा जमाए रहते हैं; लड़ाई में घायल हो जाने के कारण कुछ का रूप बदल जाता है, और कुछ बेचारे अपनी जान से ही हाथ धो बैठते हैं। इसी नियम के अनुसार प्राकृत में भी बहुत-से शब्द ऐसे पाए जाते हैं, जिनका पता देव-वाणी में नहीं मिलता। ये दूसरे देशों के, रूप बदले हुए, शब्द हो सकते हैं, अथवा उस भाषा के हो सकते हैं, जो उन लोगों में बोली जाती थी, जो आर्यों के यहाँ आने के समय बसे हुए थे। किंतु प्राकृत का भी सब जगह एक ही रूप प्रचलित न था। जिन कारणों से बंगाल के निवासी आज 'सौम्य' को 'शौम्म' और पंजाब के निवासी 'स्कूल' को 'सकूल' कहते हैं, उन्हीं अथवा उनसे मिलते-जुलते किन्हीं दूसरे कारणों से प्राकृत के भी कई रूप दिखलाई देने लगे थे, यद्यपि उनमें समानता ही अधिक थी। जब प्राकृत में साहित्य-रचना होने लगी, तब फिर बोलचाल की भाषा में और उसमें भेद हो गया। इसी प्रकार प्राकृत ने कई रूप बदले। उसका दूसरा व्यापक रूप पाली है, जो गौतम बुद्ध के संबंध के कारण सबसे महत्त्व का

मांना जाता है। पाली में भी बहुत कुछ साहित्य-रचना हुई। उस समय के जो शिला-लेख और ताम्र-पत्र आदि मिलते हैं, उनसे पाली के भिन्न-भिन्न रूपों का कुछ हाल ज्ञात हो सकता है। यहाँ हम पहली प्राकृत से दूसरी प्राकृत अर्थात् पाली का संबंध दिखलाकर व्यर्थ आपका समय नहीं लिया चाहते। हाँ, इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि बोलचाल की भाषा होने पर भी और साहित्य-रचना के लिये बहुत पुरानी न होने पर भी प्राकृत किसी समय अनगिनती अलंकारों से सजी हुई संस्कृत से अधिक मधुर समझी जाती थी, और सो भी मूर्खों में नहीं, उद्भट विद्वानों में। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में लिखा है—

परुसा सक्क अबन्धा पाउ अबन्धो विहोइ सुउमारो,
पुरुस महिलाणं जेन्ति अमिह अन्तरं तेत्तिय मिमाणं।

इसका भावार्थ यह है कि संस्कृत की रचना कठोर और प्राकृत की सुकुमार होती है; इन दोनों भाषाओं में पुरुष और स्त्री के बराबर अंतर है।

आगे चलकर विद्वानों ने देश-भेद से प्राकृत के शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री ये तीन मुख्य अपभ्रंश माने। उस समय दक्षिण-पश्चिम में प्रचलित 'नागर' नाम का भी एक अपभ्रंश माना जाता है, जिससे कुछ लोगों की राय में महाराष्ट्री और शौरसेनी की उत्पत्ति हुई। कोई मागधी को शौरसेनी का अपभ्रंश बतलाते हैं, तो कोई मागधी को मूल

प्राकृत बतलाते हैं। कोई महाराष्ट्री को मूल प्राकृत बतलाते हैं। शौरसेनी और मागधी के मेल से उत्पन्न एक अर्द्ध मागधी नाम की अपभ्रंश भाषा थी, जिससे पूर्वी हिंदी का विकास हुआ। हमारे विचार में तो यह भी एक क्रांति का युग था, और इन अपभ्रंशों की पारस्परिक समानता और असमानता देखकर ही विद्वानों ने अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने रागवाली कहावत चरितार्थ की है। यदि मागधी (जिससे बिहारी की सृष्टि हुई) के पूर्व रूप को बौद्ध-धर्म के कारण विशेष महत्त्व मिला, तो अर्द्धमागधी को महावीर स्वामी और दूसरे जैन-तीर्थंकरों के कारण उतना ही महत्त्व मिल गया। हिंदी-संसार में मैथिली का भी स्थान है, यद्यपि प्राच्य प्राकृत से उत्पन्न होने के कारण यह बँगला-भाषा की सगी बहन है।

डॉ० ग्रियर्सन साहब की राय में शौरसेनी तथा अर्द्ध-मागधी के मेल से ही वर्तमान हिंदी की सृष्टि हुई है; उनकी यह सम्मति और भी कितने ही विद्वान् लेखकों ने मान ली है। परंतु हमारा विश्वास है कि वर्तमान हिंदी पर पंजाबी का पूरा प्रभाव पड़ा है। इस विश्वास की पुष्टि में कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। संस्कृत की 'यास्यति' क्रिया का प्राकृत रूप 'जाएज्जा' है। पंजाबी में इसका अपभ्रंश 'जाएगा' अथवा 'जावेगा' है, जो आजकल बोलचाल की हिंदी में आता है। शौरसेनी से विकसित व्रजभाषा में 'जायगौ'

कहेंगे, और अर्द्धमागधी के विकसित रूप में 'जैहै' या 'जइहै'। व्रजभाषा में जहाँ 'घोड़ो' कहा जाता है, वहाँ पंजाबी में घोड़ा; और इसी रूप में आधुनिक हिंदी में भी बोला जाता है। पंजाबी का प्रभाव हिंदी पर 'बाँगड़ू' बोली की कृपा से पड़ा, जो दिल्ली और पंजाब तथा दिल्ली और राजस्थान के बीच की भाषा है। जिस प्रांत में यह बोली जाती है, उसे हरियाणा कहते हैं। इस पर राजस्थानी का भी प्रभाव पड़ा है। डॉ० ग्रियर्सन साहब के 'Linguistic Survey of India' नाम के ग्रंथ में से इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

"एक माणस कै दो छोरे थे। उनमैं तै छोट्टे छोरे ने बाप्पू तै कह्या अक बाप्पू हो धन का जौणसा हिस्सा मेरे बाँडे आवे सै मन्नै दे दे।"

इसी से मिलती-जुलती भाषा दिल्ली के आस-पास और भी कई जगह बोली जाती है। इधर आगरे की बोलचाल की भाषा पर ध्यान देने से भी खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी+अर्द्धमागधी तथा पंजाबी+पैशाची के गड़बड़ अपभ्रंश से सिद्ध हो जाती है।

पंजाबी के संबंध में यह बात ध्यान में रखने-योग्य है कि उसकी उत्पत्ति पंजाबी, प्राकृत तथा पैशाची के मेल से हुई है। पैशाची, जिसे भूत-भाषा भी कहते थे, उत्तर-पंजाब में, काश्मीर की ओर, बोली जाती थी। कुछ विद्वानों की राय

में, वह मध्य-प्रदेश और राजपूताने के आस-पास बोली जाती थी, परंतु प्रमाणों से यह बात सिद्ध नहीं होती। संस्कृत तथा प्राकृत से उसका क्या संबंध था, यह दिखाने के लिये कुछ उदाहरण देना अनुचित न होगा—

संस्कृत	प्राकृत	पैशाची
दुष्टः	दुट्ठ	दुसट
कष्टः	कट्ठ	कसट
सहते	सहइ	सहदे

इन उदाहरणों से सूचित होता है कि पैचाशी का लगाव संस्कृत से अधिक है, प्राकृत से कम। ऊपर के उदाहरण में 'सहदे' दिया हुआ है, इसी अर्थ में आधुनिक हिंदी में 'सहते' (हैं) कहेंगे। 'सहइ', जो प्राकृत का रूप है, व्रजभाषा में 'सहहि' का रूप धारण कर लेगा। हाँ, आगरे की बोली के प्रभाव के कारण 'सहै है'-सरीखे रूप भी उसमें आते रहे हैं। इस उदाहरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि खड़ी बोली की क्रियाएँ किधर से आई हैं। इनमें से एक रूप (सहता करता आदि) का वंश-वृक्ष देखने से अर्द्ध-मागधी और शौरसेनी का कहीं पता भी नहीं मिलता। ऐसे और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

प्राकृत का जो रूप अवंती में प्रचलित था, उसी से कुछ सज्जन राजस्थानी की और उसी से मिलते-जुलते एक और रूप (गौर्जरी) से गुजराती की उत्पत्ति मानते हैं। इसमें

संदेह नहीं कि राजस्थानी और गुजराती का तुलनात्मक अध्ययन करने से दोनो का निकास एक ही स्थान से हुआ दीखता है। राजपूताने के कुछ भागों की बोली तथा इधर मालवा-प्रांत की बोली से गुजराती की बहुत अधिक समता है। इससे उपर्युक्त सिद्धांत की और भी पुष्टि होती है। व्रजभाषा और राजस्थानी में जो समता दीखती है, उसका कारण इन दोनो ही का नागर अपभ्रंश से उत्पन्न होना हो सकता है, क्योंकि शौरसेनी को भी कुछ विद्वानों ने नागर अपभ्रंश का ही एक भेद माना है। इसी तरह प्राकृत का अवंतीवाला रूप भी (जिससे राजस्थानी की उत्पत्ति हुई बतलाई जाती है) नागर अपभ्रंश का ही एक भेद कहा जाता है। पूर्वी हिंदी—बैसवाड़ी (जिसको अवधी भी कहते हैं) और बघेलखंड तथा छत्तीसगढ़-प्रांत में बोली जानेवाली भाषाओं की उत्पत्ति अर्द्धमागधी से है, जो मागधी और शौरसेनी का घोटाला है। भाषाओं के इस पचड़े पर विचार करते समय यह बात न भूलनी चाहिए की इन सबकी मूल भाषा एक ही थी, और इसी कारण अनेक अपभ्रंश हो जाने पर भी सबमें समानता की एक लहर बहा की, जो अब भी देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ 'करता हूँ' के अर्थ में 'करदा हाँ', 'करत हौं', 'करूँ हूँ,' 'करूँ छूँ', 'करि' आदि एक ही से या एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते-जुलते रूप सब प्रांतीय बोलियों में मिलेंगे। इसी प्रकार और भी कितनी ही संज्ञाओं,

सर्वनामों तथा क्रियाओं के उदाहरण दिए जा सकते हैं। अब हम अपभ्रंश से हिंदी का संबंध दिखलाने के लिये कुछ उदाहरण देते हैं—

प्राकृत	अपभ्रंश	हिंदी
सामलो	सामलो	सामलो, साँवरो, साँवला
घोडो	घोडो	घोड़ौ, घोड़ा
जत्थ	जहिं	जहँ, जहाँ
तत्थ	तहि	तहँ, तहाँ
कत्थ	कहि	कहँ, कहाँ
एसो	एहो	एह, इह, यह
को	कवण	कवन, कौन
हं	हउँ	हूँ, हौं ('मैं' के अर्थ में)

शब्दों के इन कोरे उदाहरणों को छोड़कर अब साहित्य के सरस स्रोत की खोज करनी चाहिए—

(१) 'शिवसिंहसरोज' के आधार पर हिंदी-भाषा के इतिहास लिखनेवाले सज्जनों ने हिंदी का जन्म-काल संवत् ७०० के लगभग माना है। इसकी पुष्टि में वे 'पुष्य' नाम के एक कवि का उल्लेख करते हैं, जिसने दोहों में अलंकार-विषयक एक ग्रंथ की रचना की थी। खेद है, यह ग्रंथ अब नहीं मिलता, किंतु, हमारे विचार में, जिस भाषा में यह ग्रंथ लिखा गया होगा, उसे अपभ्रंश कहना अधिक युक्ति-संगत है। क्योंकि पुष्य कवि ने प्रसिद्ध राजा भोज के पूर्व-पुरुष राजा

मान से अलंकार-शास्त्र पढ़ा था। राजा भोज के चचा मुंज ने अपने भाई अर्थात् भोज के पिता की हत्या करके सिंहासन हड़प लिया था। यह वाक्‌पतिराज मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही उच्च कोटि का कवि भी था। इसकी कविता के कुछ उदाहरण आगे दिए जायँगे। अनहिलवाड़े के महाराज सिद्धराज जयसिंह के यहाँ आश्रय पानेवाले आचार्य हेमचंद्र ने, जिसका जन्म संवत् ११४५ में हुआ था, अपने 'प्राकृत-व्याकरण' में, जो संवत् ११६८ में लिखा गया है, अपभ्रंश-भाषा के जो उदाहरण दिए हैं, उनमें मुंज की भी रचना है। जब संवत् १०२५ के पीछे की मुंज की रचना अपभ्रंश में समझी जाती है, तो उससे ३०० वर्ष पहले की पुष्प की रचना भी अपभ्रंश ही में क्यों न समझी जाय? उस समय अपभ्रंश का दौरदौरा भी था, यद्यपि पीछे से यही अपभ्रंश-भाषा पुरानी हिंदी में बदल गई।

(२) प्रथम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से पं० मदनमोहनजी मालवीय ने, संवत् १९६७ में, जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने संवत् ८०२ में होनेवाले किसी कवि के विषय में कहा था। परंतु उसका नाम तथा उसके ग्रंथ का कुछ भी हाल ज्ञात नहीं है। इसलिये उसके विषय में कुछ भी कहने में हम असमर्थ हैं।

(३) इसके बाद 'खुमानरासो का हाल मिलता है। यह संवत् ८९० के कुछ पीछे की रचना हो सकती है; क्योंकि चित्तौर

के रावल खुमान का राज्य-काल संवत् ८६६ से ८६० तक है। खेद है, यह ग्रंथ भी नहीं मिलता, किंतु ऊपर दिए हुए कारणों से इसका भी अपभ्रंश में ही होना अधिक संभव है।

(४) संवत् ६६० के लगभग श्रीदेवसेन सूरि ने 'नयचक्र' नाम का ग्रंथ दोहों में लिखा, जिसको, पीछे से, 'माइल्ल धवल' नाम के एक और विद्वान् ने प्राकृत में किया। यह भी, हमारी समझ में, अपभ्रंश में ही रचा गया होगा।

(५) विक्रम-संवत् से कोई ५०० वर्ष पहले मगध में 'प्रसेनजित्' नाम का एक राजा था, जिसकी राजधानी राजगृह में थी। किसी कवि ने अपभ्रंश-भाषा में उसका चरित्र लिखा है, जिसमें कितने ही दोहे शुभशील गणि ने अपने 'कथा-कोप' में जो उन्होंने संवत् १०५६ में लिखा है, दिए हैं। उनमें से हम केवल एक दोहा उदाहरण के लिये यहाँ देते हैं। राजा ने सभा में अपने पुत्र से, किसी बात पर अप्रसन्न होकर, कुछ कठोर वचन कह दिए, जिससे रूठकर वह घर से निकल गया, और कहीं जाकर किसी का घर-जमाई होकर रहने लगा। राजा ने उसे बुलाने के लिये एक श्लेष-युक्त दोहा लिखा। पुत्र ने उसका उत्तर दिया। राजा ने फिर तीन दोहे लिखे। पुत्र ने फिर उत्तर दिया। राजा ने फिर दो दोहे लिखे, जिनमें से एक यह है—

जे मि सभा महँ बोलिऊँ ते अपमान कि मान;
सोजि सँभारि बिचारि करि तो आरोग उधान।

इसमें पुरानी हिंदी का ही नहीं, और भी कितनी ही प्रांतीय बोलियों का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

(६) मुंज के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। उसका शासन-काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के अंत में अनुमान किया जाता है। अंतिम युद्ध में वह कल्याण के सोलंकी राजा तैलप द्वितीय के हाथों क़ैद कर लिया गया। क़ैद में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया, और उसने सुरंग में होकर निकल भागने की जो युक्ति शोची थी, वह मृणालवती को बतला दी। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और भी कड़ाई होने लगी। ये दोहे, जो उदाहरण में दिए जाते हैं, मुंज की, उसी समय की, रचना हैं—

(१)

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ ;
मुंज भणइ मुणालवइ बिघन न बेढइ कोइ।

अर्थात् जो बुद्धि पीछे से, यानी कुछ खोकर, पैदा होती है, वह यदि पहले ही से हो जाय, तो मुंज कहता है, हे मृणाल-वती, कोई विघ्न न अड़े।

(२)

सायर खाई लंकगढ़ गढ़वइ दससिरि राउ ;
भग्गक्खय सो भज्जिगय मुंज न करि बिसाउ।

अर्थात् सागर जिसकी खाई और जिसका गढ़पति दस

सिरवाला राव अर्थात् रावण है, वह लंकगढ़ भी भाग्य के क्षय होने पर टूट गया, इसलिये हे मुंज, विषाद मत कर।

(३)

अट्ठोतर सु बुद्धडी रावण तणइ कपालि ;

एक्कु बुद्धि न साँपड़ी लंका भंजण कालि।

अर्थात् रावण के कपाल में एक सौ आठ बुद्धियाँ थीं, किंतु लंका के टूटने के समय एक भी न चली, अर्थात् कारगर न हुई।

(७) कहा जाता है कि संवत् १०८० के लगभग जब महमूद ग़ज़नवी ने कालिंजर के राजा नंद पर चढ़ाई करने का विचार किया, तब राजा नंद ने एक छंद लिखकर सुलतान के पास भेजा, जिसका मतलब सुनकर सुलतान इतना प्रसन्न हुआ कि उसने न केवल कालिंजर पर चढ़ाई करने का विचार छोड़ दिया, बल्कि १५ क़िले राजा को और दिए। खेद है, यह छंद देखने में नहीं आता।

(८) आचार्य हेमचंद्र के संबंध में अनहिलवाड़े के महाराज सिद्धराज जयसिंह का नाम ऊपर लिया जा चुका है। उनके राज में क़ुतुबअली नाम का एक मुसलमान कवि बसता था, जिसकी मसजिद कुछ लोगों ने खोद डाली थी। इस पर क़ुतुबअली ने महाराज से छंदबद्ध प्रार्थना की। महाराज ने प्रसन्न होकर न केवल मसजिद फिर से बनवा दी, बल्कि खोद डालनेवालों को उचित दंड भी दिया।

खेद है, क़ुतुबअली की भी कोई रचना नहीं मिलती। किंतु यह घटना संवत् ११५० से १२०० तक कभी हो गई होगी; क्योंकि इन महाराज का शासन-काल यही माना जाता है।

(६) संवत् ११८० के लगभग साद का बेटा मसऊद भी हिंदी का कवि था। खेद है, इसकी रचना भी नहीं मिलती।

(१०) बीकानेर के साईंदान चारण द्वारा, संवत् ११६१ में, लिखे गए 'समंतसार' नाम के ग्रंथ का पता चलता है।

(११) डीडवाणा (मारवाड़) के अकरमफ़ैज़ का जन्म संवत् ११७६ में हुआ कहा जाता है। यह जयपुर के महाराज माधवसिंहजी का आश्रित था। इसने 'वर्तमाल' काव्य की रचना की, और 'वृत्तरत्नाकर' का अनुवाद किया।

यद्यपि इस समय की भी कितनी ही रचना अपभ्रंश (जिसको उस समय पुरानी चाल की हिंदी समझा जाता रहा होगा) में मिलती है, किंतु हमारी राय में अब तक हिंदी को स्वतंत्र रूप प्राप्त हो गया था। चंद और जगनिक की रचना पर ध्यान देने से इस अनुमान के सत्य होने में तनिक भी संदेह नहीं रहता। चंद का जन्म संवत् ११८३ में, 'लाहौर' में, हुआ था। वह पृथ्वीराज का आश्रित था। उसका समकालीन जगनिक महोबे में परमाल राजा का आश्रित था। चंद की रचना में सभी प्रांतीय भाषाओं की झलक दिखलाई देती है। उसने फ़ारसी और अरबी के भी शब्दों का

बेधड़क प्रयोग किया है। 'पृथ्वीराज-रासो' की भाषा के विषय में वह स्वयं कहता है—

उक्तधर्मविशालस्य राजनीतिनवं रसम् ;
षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

यहाँ क़ुरान से मतलब अरबी-फ़ारसी के शब्दों से है। चंद के पहले तथा उसके समय में भी कितने ही और कवि रहे होंगे ; परंतु खेद है, दो एक को छोड़कर बाक़ी का पता नहीं चलता। पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२०५ में हुआ था, और संवत् १२४८ में वह मोहम्मद गोरी द्वारा मारे गए थे। कहा जाता है, चंद की मृत्यु भी उन्हीं के साथ हुई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस समय भी कोई-कोई कवि अपभ्रंश-भाषा में रचना करते थे; किंतु उनकी भाषा भी पुरानी हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिये अनहिलवाड़े के सोमप्रभ सूरि के लिखे 'कुमारपाल-प्रतिबोध' का नाम लिया जा सकता है, जो संवत् १२४१ में रचा गया। इसमें से केवल दो उदाहरण दिए जाते हैं—

(१)

अम्हे थोड़ा रिउ बहुय इयु कायर चिन्तन्ति ;
मुद्धि निहालहि गयण यलु कइ उज्जोउ करन्ति।

अर्थात् 'हम थोड़े हैं, रिपु बहुत हैं', यों कायर सोचते हैं। हे मुग्धे, देख, आकाश में कितने (नक्षत्र) हैं, जो उजाला करते हैं ?

(२)

जं मणु मूढ़इ माणुसह वंछइ दुल्लह वत्थु ;
तं ससिमंडल ग्रहण किहिं गयण पसारइ हत्थु ।

अर्थात् जो मनुष्य का मूढ़ मन दुर्लभ वस्तु की इच्छा करे, तो वह (मानो) शशि-मंडल को ग्रहण करने के लिये गगन में हाथ पसारता है ।

चंद ने जो रासों में छ भाषाओं के व्यवहार करने की बात कही है, उससे और उसकी रचना देखकर भी, यही प्रतीत होता है कि इस समय तक थोड़ा-बहुत भेद रखनेवाले हिंदी के कितने ही रूप प्रचलित हो गए थे, जैसे आजकल भी देखने में आते हैं । किंतु जो रूप, कुछ विशेष कारणों से, ऊपर आ गए, वे आ गए ; शेष इस जीवन-संघर्ष में या तो लुप्त हो गए या दब गए । चंद ने पृथ्वीराज-रासो लिखा या नहीं, और यदि लिखा, तो कितना लिखा, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । कुछ सज्जनों का मत है कि उसमें बहुत-सा गड़बड़झाला पीछे से मिलाया गया है । जो हो, उसकी रचना में से कितनी ही ऐसी है, जो अपभ्रंश और राजस्थानी तथा अपभ्रंश और व्रजभाषा के बीच के गड्ढे को भरती हुई इतिहास-प्रेमियों के लिये खोज की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है । आगे इसकी रचना में से केवल दो उदाहरण दिए जाते हैं, जिनसे आप स्वयं अनुमान कर लेंगे कि इसने किस प्रकार कहीं तो कितनी ही भाषाओं की

चटनी कर दी है, और कहीं शुद्ध व्रजभाषा में लिखा है-

(१)

खुरासान मुलतान खंधार मीरं
बलक सोवलं तेग अच्चूक तीरं
रुहंगी फिरंगी हलंबी समानी
ठटी ठट्ट बल्लोच ढालं निसानी
मँजारी चखी मुक्ख जंबक्क लारी
हजारी हजारी हुकैं जोध भारी
तिनं पष्परं पीठ हय जीन सालं
फिरंगी कती पास सुकलात लालं
तहाँ बाघ बाघं मरूरी रिछोरी
घनंसार सम्मूह अरु चौरँ झोरी
एराकी अरब्बी पटी तेज ताजी
तुरक्की महावान कम्मान बाजी
ऐसे असिव असवार अग्गेल गोलं
भिरे जून जेते सुतत्ते अमोलं
तिनं मद्धि सुलतान साहाब आपं
इसे रूप सौं फौज बरनाय जापं
तिनं घेरियं राज प्रथिराज राजं
चिहो ओर घनघोर नीसान बाजं

अब व्रजभाषा का शुद्ध रूप देखिए—

(२)

पूरन सकल बिलास रस सरस पुत्र फलदान ;
अंत होय सहगामिनी नेह नारि कौ मान।
समदरसी ते निकट है भुगति मुकति भरपूर ;
बिषम दरस वा नरन ते सदा सरबदा दूर।
पर योषित परसे नहीं ते जीते जग बीच ;
परतिय तकत रैन-दिन ते हारे जग नीच।

इसमें 'तकत' को छोड़कर और सब शुद्ध व्रजभाषा है। इस समय अपभ्रंश की भाँति किसी एक भाषा का साम्राज्य न होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषाओं में बहुत समता पाई जाती है। इसका कारण उन सबका एक ही घर की बेटियाँ अथवा भतीजियाँ होना है। कहावत है कि हर बारह कोस पर भाषा बदल जाती है; किंतु रूप-रंग की समता देखकर पहचाना जा सकता है कि कौन किस कुटुंब की है। ऊपर के उदाहरणों को ध्यान से देखने पर अनुमान किया जाता है कि हिंदी के भिन्न-भिन्न रूपों का ढाँचा विक्रम का तेरहवीं शताब्दी से पहले ही तैयार हो गया था।

अब हम हिंदी के उस रूप के विषय में कुछ कहना चाहते हैं, जिसमें यह पुस्तक लिखी गई है। यह रूप आगरा, दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर आदि के आस-पास भाषाओं के उसी तुमुल युद्ध के समय से प्रचलित है, जब वे अपभ्रंश से अलग हुई

थीं। चंद की कविता में हमें इसकी झलक दिखाई देती है। किंतु सबसे पुरानी क्रम-बद्ध रचना, जो इसमें मिलती है, अमीर ख़ुसरो की है। संवत् १३१२ में अमीर ख़ुसरो का जन्म हुआ था। यह फ़ारसी के अतिरिक्त हिंदी के भी विद्वान् थे, और मनचले ख़ूब थे। इनकी रचना पढ़ने से सहज में ज्ञात हो सकता है कि इनके समय तक हिंदी का यह रूप कहाँ तक विकसित और स्वतंत्र हो चुका था। इनकी रचना के कुछ नमूने यहाँ दिए जाते हैं—

(१)

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा;
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।

यह 'अकाश' की पहेली है।

(२)

बाला था जब सबको भाया, बढ़ा हुआ कुछ काम न आया;
ख़ुसरो कह दिया उसका नाम, अर्थ करो नहीं छोड़ो गाम।

यह 'दीए' की पहेली है।

(३)

सिर पर जटा गले में झोली किसी गुरू का चेला है;
भर-भर झोली घर को धावै उसका नाम पहेला है।

यह 'भुट्टे' की पहेली है।

एक कहानी मैं कहूँ, सुन ले मेरे पूत;
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत।

यह 'कनकौवे' की पहेली है।

'लाल'-वाली एक पहेली के अंत में ख़ुसरो ने कहा है—

'अरबी, हिंदी, फ़ारसी तीनों करो ख़याल'

इससे प्रमाणित होता है कि इस भाषा का नाम 'हिंदी' ख़ुसरो के समय तक पड़ चुका था। वैसे 'हिंदू', 'हिंदी' आदि शब्द भी बहुत पुराने हैं। फ़ारसवालों ने सिंध देश का 'हिंध' नाम रख लिया था। यह 'स' का 'ह' में बदल जाना तुलनात्मक शब्द-शास्त्र के एक व्यापक नियम के अनुसार हुआ, जिसके अनुसार संस्कृत का सप्त फ़ारसी में हफ़्त और सप्ताह हफ़्ता कहा जाता है। 'हिंध' का 'हिंद' हो जाना साधारण बात है। हिंद के रहनेवाले हिंदू या हिंदी कहलाए, और उनमें जो भाषा सबसे अधिक व्यापक थी, वह अंत में हिंदी-भाषा कहलाई। यह नाम मुसलमानों के यहाँ पधारने से कहीं पहले का है। मेरु-तंत्र के—

"पञ्च खानाः सप्त मीरा नव लाहा महाबलाः ;
हिंदुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।"

और शिवरहस्य के—

"हिंदुधर्मप्रलोप्तारो भविष्यन्ति कलौ युगे"

श्लोक पीछे से मिलाए गए भी मान लिए जायँ, तो भी ईसामसीह से बहुत पहले फ़ारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक पारसी धर्म-पुस्तक में जो "अकनू बिरहाने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बसदाना के अकिल चुनानस्त" और "चूँ व्यास हिंदी बबल्ख़ आमद" लिखा है, वही 'हिंदी' शब्द की प्राचीनता

के प्रणाम में यथेष्ट है। अमीर खुसरो के अतिरिक्त और भी मुसलमान लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। किसी मुसलमान लेखक ने धार्मिक विषय को लेकर 'नूरनामा' नाम की पुस्तक पहले कभी बनाई थी। उसमें उसने उस भाषा को भी 'हिंदी' ही बतलाया है, जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। देखिए—

जुबाने अरब में यथा सब कलाम
किया नज़्म हिंदी में मैंने तमाम।
अगरचे थी अफ़सः वो अरबी ज़ुबाँ;
व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ।
समझ उसकी हर इक को दुश्वार थी;
कि हिंदी ज़ुबाँ याँ तो दरकार थी।
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो ग़ौर;
लिखा नूरनामे को हिंदी के तौर।

मलिक मोहम्मद जायसी ने शेरशाह के समय में 'पद्मावत' नाम का प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ लिखा है। उसमें उसने कहा है—

"तुर्की अरबी हिंदवी भाषा जेती आहि;
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि।"

जटमल ने संवत् १६८० में जो 'गोरा-बादल की कथा' लिखी है, उसमें 'हिंदवी' शब्द लिखा है। इन सब बातों से सूचित होता है कि इस समय तक हिंदी के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' नहीं पड़ा था। प्राकृत या संस्कृत

भेद जतलाने के लिये हिंदी को 'भाषा' भी कहा जाता था। आज भी 'भाषा-टीका-सहित' पुस्तकों के विज्ञापन देखने में आते हैं।

पहले गद्य होता है, तब पद्य। यह बात दूसरी है कि पुस्तकें पहले पद्य में लिखी जायँ। जब तक कोई भाषा बोलचाल में न आवे, तब तक उसमें कोई कैसे काव्य-रचना कर सकता है? ख़ुसरो की रचना उस समय की बोलचाल की भाषा का सुंदर और स्वच्छ स्वरूप दिखला रही है। परंतु प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन साहब (जिनके ऋण से हिंदी-संसार कभी उऋण नहीं हो सकता) कहते हैं कि मि० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में लल्लूजीलाल ने बोलचाल की भाषा में से फ़ारसी-अरबी के शब्द हटाकर और उनकी जगह इंडो-आर्यन शब्द रखकर नई भाषा गढ़ डाली। पहले तो लल्लूजीलाल की रचना-शैली ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उन्होंने कोई नई भाषा नहीं गढ़ी, केवल आगरे की बोली में—जिसको उन्होंने, व्रजभाषा से तथा फ़ारसी-अरबी के शब्द मिली हुई बोली से, जो उस समय रेख़्ते की बोली कहलाती थी, भेद बतलाने के लिये खड़ी बोली कहा है—पुस्तक लिखा ('लालचंद्रिका' में अपना हाल देते हुए लल्लूजीलाल स्वयं कहते हैं—'इसमें जो पोथियाँ व्रजभाषा और खड़ी बोली औ रेख़ते की बनाई सो सब प्रसिद्ध हैं'), दूसरे, उनकी शैली में कहीं-कहीं व्रजभाषा का पुट दीखता है। जिसका

होना—अगर केवल शब्दों का हेर-फेर करके वह पुस्तक लिखी जाती, तो—असंभव था। भाषाओं में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुआ करता है। जिस भाषा में लल्लूजीलाल पुस्तकें लिख गए हैं, वह आज भी आगरे में हमारे घरों में बोली जाती है। जिस मोहल्ले में लल्लूजीलाल ने जन्म लिया था, वही इस लेखक की जन्मभूमि है। जिन गलियों और सड़कों पर लल्लूजीलाल खेले थे, उन पर इसे भी खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अधिक क्या कहा जाय, जिस तालाब में वह तैरना सीखे थे, (कि जिसके कारण पीछे से उनका भाग्य चमका) उसी तालाब में (हालाँकि वह अब पक्का बन गया है) तैरना सीखने की इच्छा से इसने भी हाथ-पैर फटफटाए हैं, यद्यपि तैरना अब तक न आया। लल्लूजी-लाल का घर इसके झोपड़े से बीस क़दम की दूरी पर भी न था। उस मोहल्ले में ही नहीं, सारे आगरे में देखिए—आपको प्रत्येक हिंदू-घर में 'प्रेमसागर' की-सी भाषा सुनाई देगी। जो थोड़ा-सा भेद दीखेगा, वह वही होगा, जिसका लिखने और बोलने की भाषा में होना स्वाभाविक ही है। क्या केवल लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' लिखने से ही वह भाषा आगरे में घर-घर की बोली हो गई?

लल्लूजीलाल के समकालीन सदल मिश्र की भी प्रणाली प्रौढ़ता की द्योतक है। खुसरो ने जिस भाषा में और जिस ढंग से रचना की है, उससे प्रकट होता है कि भाषा का वह रूप

उससे पहले भी बोलचाल में खूब आता था, और उसमें पद्य-रचनाएँ भी होती थीं। खुसरो की भाषा में नएपन या फ़ौजी-पन का नाम भी नहीं है? उसमें, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, वह स्वतंत्रता और सामर्थ्य दिखाई देती है, जो किसी ठेठ भाषा में होनी चाहिए। फिर भी 'प्रेमसागर' की भाषा को लेकर डॉक्टर ग्रियर्सन साहब 'लालचंद्रिका'-वाली अपनी विद्वत्ता-पूर्ण भूमिका में एक स्थान पर कहते हैं—

"Such a language did not exist in India before... When, therefore, Lalluji Lal wrote his Premsagara in Hindi, he was inventing an altogether new language".

अर्थात् ऐसी भाषा भारतवर्ष में कहीं बोली नहीं जाती थी... अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वह एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।

इसी पुस्तक की भूमिका में आगे आप एक स्थान पर लिखते हैं—

"When the Premsagara was written Hindus discovered that they had been speaking prose all their lives without knowing it."

अर्थात् जब प्रेमसागर लिखा गया, तब हिंदुओं को ज्ञात हुआ कि वे, बिना जाने, जन्म-भर गद्य में बातचीत करते रहे हैं।

अपराध क्षमा हो, हम-सरीखे अल्प बुद्धिवाले व्यक्ति को तो इन दोनो कथनों में परस्पर विरोध दीखता है।

जिस समय लल्लूजीलाल ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में प्रेम-सागर की रचना की, उसी समय सदल मिश्र ने 'नासिकेतो-पाख्यान' और मीर अम्मन ने उर्दू में 'बाग़ोबहार' की रचना की। डॉ० ग्रियर्सन साहब उर्दू और हिंदी-गद्य के जन्म के विषय में स्वयं ही अपने 'Linguistic Survey of India' नाम के ग्रंथ में लिखते हैं—

"Urdu prose came into existence, as a literary medium, at the beginning of the last century in Calcutta. Like Hindi prose it, was due to English influence and to the need of text books in both forms of Hindustani for the College of Fort William. The Bagh O' Bahar of Mir Amman and the Khirad-e-Afroze of Hafiz-ud-din Ahmad are familiar examples of the earlier of these works in Urdu as the already mentioned Premsagara written by Lalluji Lal is an example of those in Hindi."

इसका खुलासा यह है—"पिछली शताब्दी के प्रारंभ में उर्दू-गद्य पहले-पहल कलकत्ते में साहित्य-रचना के काम में लाया गया। हिंदी-गद्य की भाँति यह भी अँगरेजों के प्रभाव

से ही उद्भूत हुआ, और इसलिये भी कि 'हिंदोस्तानी' भाषा के दोनो रूपों में पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता थी—फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के लिये। मीर अम्मन का 'बाग़ोबहार' और हाफ़िज़-उद्दीन अहमद का 'ख़िराद्-इ-अफ़रोज़' उर्दू के प्रारंभिक गद्य के नमूने हैं, जैसे कि लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' हिंदी-गद्य का नमूना है।"

इससे यह साबित होता है कि हिंदी तथा उर्दू-गद्य में पुस्तकें पहलेपहल फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में लिखी गईं। इस मत के विरुद्ध हम मुंशी सदासुखसिंह (जिनका जन्म संवत् १८०३ में दिल्ली में हुआ तथा मृत्यु संवत् १८८१ में प्रयाग में हुई) और सैयद इंशाअल्लाहख़ाँ (जो दिल्ली के रहनेवाले थे, किंतु वहाँ से लखनऊ के नवाब सआदतअलीख़ाँ के यहाँ आकर रहे थे, और जिनकी मृत्यु संवत् १८७४ में हुई) को पेश करते हैं। लल्लूजीलाल की नौकरी फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में संवत् १८५७ में लगी थी, और इसके १९ वर्ष बाद उन्होंने 'लालचंद्रिका' लिखी, जैसा स्वयं उन्हीं के कहने से ज्ञात होता है। इस हिसाब से प्रेमसागर का रचना-काल संवत् १८५७ और १८७६ के बीच में कभी माना जा सकता है। मुंशी सदासुखसिंह और सैयद इंशाअल्लाहख़ाँ की रचना 'प्रेम-सागर' से कुछ पहले की हो सकती है।

हमारा विश्वास है कि खड़ी बोली के कई गद्य-लेखक मुंशी सदासुखसिंह से भी पहले हो गए होंगे। संभव है, उनकी रचनाएँ

खोज में मिलें, यों दो-एक रुक्के-परचे तो हमारे पास भी हैं। सैयद इंशाअल्लाहख़ाँ की पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' को डॉक्टर ग्रियर्सन साहब स्वयं संवत् १८५७ के लगभग की अनुमान करते हैं। मुंशी सदासुखसिंह का गद्य अभी कहीं छपा नहीं। उसका परिचय हिंदी-संसार को लाला भगवानदीन और श्रीयुत रामदास गौड़ की 'हिंदीभाषासार' नाम की पुस्तक से मिलता है। अब हम यहाँ चारो की शैली का थोड़ा-थोड़ा नमूना दिखाते हैं—

(१) मुंशी सदासुखसिंह—

कितने जन्मांध किसी गाँव में बसते थे। वहाँ हाथी आय निकला। जितने अंधे थे यह बात सुनकर बहुत फूले और मुदित हुए। सब मिलकर कहने लगे कि चलो हाथी देखिए। सब मिलकर आए। आँखों से तो अंधे थे। किसी ने सूँड़ पकड़ी हाथ से, उसने कहा हाथी अजगर के बराबर है।

(२) सैयद इंशाअल्लाहख़ाँ—

एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ आई। कोई कहानी ऐसी कहिए, जिसमें हिंदुई छुट और किसी बोली की पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले।

(३) लल्लूजीलाल—

महाराज, सब रानियाँ तो देवी के द्वार पर धरना दे यों मनाय रही थीं और उग्र सेन, वसुदेव आदि सब यादव महा-

चिंता में बैठे थे कि इस बीच श्रीकृष्ण अविनाशी द्वारकावासी हँसते-हँसते जांबवंती को लिए आप राजसभा में खड़े हुए।

(४) सदल मिश्र—

इस प्रकार से यमपुरी का दक्षिण द्वार अति डरावना है कि जहाँ दूतों के बस होकर पापी लोग ऐसे महानरक में पड़ते वो नाना भाँति के दुःख को सहते हैं।

अब इन चारो उदाहरणों को देखकर पाठक स्वयं ही निश्चय कर सकते हैं कि पिछले दो उदाहरणों की भाषा फ़ोर्ट विलियम में गढ़ी गई है अथवा उस पुरानी बोली का विकसित रूप है, जिसमें अमीर खुसरो ने रचना की थी। पहले दो उदाहरण पाठकों को अपना मत स्थिर करने में बहुत सहायता देंगे; क्योंकि एक तो उनका फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से कोई संबंध नहीं, दूसरे कुछ लोगों की राय में वे इतने पहले के लिखे हुए हैं कि जब उर्दू-गद्य का जन्म भी नहीं हुआ था।

डॉ० ग्रियर्सन साहब उर्दू और 'हिंदी (खड़ी बोली)-गद्य का जन्म एक साथ मानते हैं, परंतु स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी 'पुरानी हिंदी'-शीर्षक अपने लेख में करते हैं—"हिंदी-गद्य की भाषा लल्लूलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू-गद्य उससे पुराना है। खड़ी बोली-कविता हिंदी में नई है;... उर्दू पद्य-भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलवाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।" इसी लेख में

एक जगह आप कहते हैं—"मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है।"

भला सोचने की बात है कि जो भाषा दुनिया के परदे पर कहीं बोली ही नहीं जाती थी, उसमें चौदहवीं सदी में पद्य-रचना कैसे कर डाली जाती थी! फिर आप ही के कथनानुसार चौदहवीं शताब्दी में लिखी गई शार्ङ्गधर-पद्धति में श्रीकंठ के लिखे हिंदी और संस्कृत के गड़बड़ श्लोक में खड़ी बोली कहाँ से आ घुसी? वह श्लोक यों है—

नून बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः स्वरः
शत्रुंपाडि लुटालि तोडि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः ;
झूठे गर्व भरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे
कंठे पाग विवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्।

इस श्लोक को देकर गुलेरीजी स्वयं ही कहते हैं—"इन अवतरणों से जान पड़ता है कि उस समय हिंदी के दोनो रूप प्रचलित थे, खड़ा और पड़ा।"

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे तो यही साबित होता है कि हिंदी-गद्य की भाषा लल्लूजीलाल से पहले से चली आती है, और उर्दू-गद्य उससे पुराना नहीं है। खड़ी बोली की कविता भी हिंदी में नई नहीं साबित होती। संभव है, गुलेरीजी ने अमीर ख़ुसरो की रचना को, उनके मुसलमान होने के कारण ही, उर्दू मान लिया हो, हालाँकि 'उर्दू' का तब तक कहीं नाम-निशानथभी नहीं ।।जिस रचना को स्वयं ख़ुसरो

ने हिंदी बतलाया है, उसे हिंदी छोड़कर कुछ और क्यों मान लिया जाय, यह समझ में नहीं आता। सं० १९६८ में प्रयाग में होनेवाले हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन के लिये खड़ी बोली की कविता के संबंध में जो निबंध हमने लिखा था, उसमें भी हमने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। उर्दू-पद्य-भाषा को खड़ी बोली का फ़ारसी-अरबी-शब्द-मिश्रित रूप न बतलाकर यह कहना कि उर्दू-पद्य-भाषा खड़ी बोली से पहले की है, ऐसा ही है, जैसा बेटी की उत्पत्ति मा से पहले मान लेना। हिंदी-कवियों ने यदि मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली में बातचीत कराई तो क्या इसी से यह साबित हो गया कि खड़ी बोली मुसलमानी भाषा है, जैसा कि गुलेरी जी ने कहा है? इसका कारण तो केवल यह था कि यह भाषा आगरे और दिल्ली-जैसे शहरों की थी, जो उस समय सभ्यता और वैभव के केंद्र समझे जाते थे। हिंदी में अरबी-फ़ारसी के शब्द देखकर ही उसे मुसलमानी भाषा ठहराना भी ठीक नहीं; क्योंकि इन भाषाओं के शब्द सभी हिंदी-कवियों की कविता में पाए जाते हैं; यहाँ तक कि तुलसी और सूर की कविता में भी अनगिनती ऐसे शब्द हैं। और यह भी बात नहीं कि खड़ी बोली को मुसलमान पात्रों से ही बुलवाया गया हो। कबीर, नानक, दादू आदि संतों की कितनी ही रचनाएँ खड़ी बोली में हैं। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि आनंदघन ने अपनी 'विरह-लीला' खड़ी बोली में ही लिखी है; और भी

कितने ही भक्त कवियों की कविता खड़ी बोली में है। इन बातों से गुलेरीजी की युक्ति की निस्सारता प्रकट हो जाती है। आगे चलकर गुलेरीजी का यह कहना है कि मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी है, हमें अचरज में डालता है। आगरा, दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों को छोड़कर, जहाँ हिंदी का यह स्वरूप अपभ्रंश-काल के पीछे से ही प्रचलित है, आप प्रयाग, काशी, पटना चाहे जहाँ निकल जाइए, सभी बेपढ़े मुसलमान, और कितने ही पढ़े-लिखे मुसलमान भी अपने घरों में प्रांतीय भाषा बोलते हैं। हमने स्वयं बोलते सुना है, और जो सज्जन चाहें सुन सकते हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि खड़ी बोली का प्रचार शिक्षा के साथ ही दिन-पर-दिन बढ़ रहा है, और सो भी दोनो ही जातियों में। प्राचीन भाषाओं के विद्वानों का बोलचाल की हिंदी को म्लेच्छ-भाषा बतलाना उतना ही अनुचित है, जितना कि हिंदू-सभ्यता से परिचय प्राप्त करने की परवा न करनेवाले अरबी-फ़ारसी के विद्वानों का यह कहना कि हिंदी तो कोई भाषा ही नहीं है, वह तो कहीं बोली ही नहीं जाती। खेद है, अपने एक स्वर्गीय मित्र के मत के विरुद्ध, जिनके वियोग के आँसू हमारी आँखों में अभीतक नहीं सूख पाए हैं, हमें इतना लिखना पड़ा। आज कितने ही अँगरेज़ी पढ़े व्यक्ति कुछ इस प्रकार की भाषा बोलते हुए सुने जाते हैं—"मैं इस पॉइंट (point) पर ईल्ड ((yield) नहीं कर सकता,

मेरा फ़ुल कन्विकृशन (full conviction) है कि मेरा स्टेटमेंट (Statement) ट्रू थ (truth) पर बेस्ड (based) है। शायद कहीं समथिंग बेटर इन स्टोर फ़ॉर मी (something better instore forme) हो।" इधर पढ़े-लिखों का यह हाल है। उधर तकिया और तौलिया बेचनेवाला अँगरेज़ी फ़ौजों में यों कहकर आवाज़ लगाता— "साहब! पिलुआ, गुदड़ी तौल बाई (buy)।" जवाब में साहब धमकाता है—"वेल, चला जाओ, अदरवाइज़ (otherwise) हम तुमको पुलिस को हैंड-ओवर (handover) कर देगा।"

हिंदी की ठीक यही दशा उस समय हुई थी, जब मुसलमानों ने इस देश को जीता, और यहाँ अपना प्रभाव फैलाया था। हिंदी का ज्ञान न होने के कारण अपना मतलब समझाने के लिये उन्हें फ़ारसी, अरबी, तुर्की आदि के शब्द प्रयोग में लाने पड़ते थे। ठेठ हिंदी में इन शब्दों के फैल जाने के कारण ही पिछले दिनों में इसको रेख़ता की बोली कहा गया। अधिकतर मुसलमान यहाँ फ़ौजियों की हैसियत से आए थे, इसलिये फ़ारसी-अरबी शब्द मिली हुई हिंदी को उर्दू-हिंदी को अर्थात् फ़ौजी हिंदी भी कहते थे, जिस प्रकार बुंदेलखंडी हिंदी, बैसवाड़ी हिंदी, बाबू-इँगलिश आदि कहा जाता है। अब बैसवाड़ी हिंदी अथवा बुंदेलखंडी हिंदी अथवा राजस्थानी हिंदी कहने का कष्ट न उठाकर लोग जैसे बैसवाड़ी, बुंदेलखंडी और राजस्थानी कहते

हैं, उसी प्रकार हमारा अनुमान—नहीं विश्वास—है कि उर्दू-हिंदी में से भी हिंदी लुप्त होकर उर्दू ही नाम रह गया।

उर्दू के ज़बर्दस्त लेखक स्वर्गीय शम्सुलउलमा मौलाना मोहम्मदहुसेन साहब आज़ाद अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आबेहयात' में लिखते हैं—

"इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी उर्दू ज़ुबान व्रज-भाषा से निकली है और व्रजभाषा ख़ास हिंदोस्तानी ज़ुबान है।"

आज़ाद साहब की देखा-देखी स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त भी ऐसा ही कहते हैं। संभव है, व्रजभाषा के उत्कृष्ट काव्य को देखकर अथवा अपभ्रंश तक पहुँच न होने के कारण श्रद्धेय मौलाना साहब ने ऐसा लिख दिया हो, पर गुप्तजी ने क्यों उनसे सहमत होना उचित समझा, यह समझ में नहीं आता। आधुनिक हिंदी की उत्पत्ति शौरसेनी, अर्द्धमागधी और पंजाबी के मेल से हुई है, यह बात हम ऊपर दिखा चुके हैं। व्रजभाषा तो बहुत कुछ शौरसेनी का अपभ्रंश है—उससे खड़ी बोली की उत्पत्ति होना असंभव है। हिंदी-भाषा पर एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख झालावाड़ के विद्वान् महाराणा श्रीसर भवानीसिंहजी ने, कुछ समय हुआ, लिखा था। इधर मिस्टर कीज ने हिंदी-साहित्य का छोटा-सा, किंतु बहुत ही सुंदर इतिहास हाल में लिखा है। इन सज्जनों ने जो मत स्थिर किए हैं, उनकी आलोचना भी डॉ० ग्रियर्सन और गुलेरीजी के मत

की आलोचना के साथ ही हो जाती है, अतएव उनकी अलग आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। केवल दूसरी भाषाओं के कुछ शब्द आ जाने से ही किसी भाषा का नाम नहीं बदल सकता। भला सोचने की बात है कि मीडिक-भाषा के कुछ शब्द मिलाकर भी पारसी लोग जिस भाषा को बोलते हैं, क्या वह गुजराती नहीं कहलाती? भाषा कौन-सी है और कौन-सी नहीं, इसका पता उसकी विशेषताओं से अथवा उसके व्याकरण के सहारे लगाया जा सकता है। कुछ उर्दू-लेखक फ़ारसी-अरबी के शब्दों की भरमार करके और फारसी-व्याकरण तक का कहीं-कहीं अनुकरण करके भाषा के रूप को बिगाड़ने में सदा तत्पर रहते आए हैं, यह उनकी भूल है। उनकी इस करतूत से हिंदी का ढाँचा तनिक भी नहीं बिगड़ सकता, वे अपना मन समझाने के लिये इसे भले ही विदेशी पोशाक से सजा लें, परंतु शरीर को नहीं बदल सकते। हिंदी ही उर्दू है, यह बात हम अपने मन से नहीं कह रहे हैं। डॉ० राजेंद्रलाल मित्र और मि० बीम्स-सरीखे विद्वानों की भी यही राय है। पुराने समय के मुसलमान लेखक भी ऐसा ही मानते रहे हैं, यह बात हम पहले दिखा चुके हैं। उर्दू नाम पुराना नहीं, नया है। ईसवी सन् १६७३ में फ्रायर नाम के एक विदेशी सज्जन ने बादशाही दरबार की भाषा को फ़ारसी और सर्वसाधारण की भाषा को 'इंडोस्टान' बतलाया है। हमारा विश्वास है कि यात्री ने 'हिंदी' की जगह 'इंडोस्टान'

लिखा है। 'पीट्रोडेलावेल' नाम के यात्री का यात्रा-विवरण ईसवी सन् १६६३ में प्रकाशित हुआ था। उसने एक ऐसी भाषा के विषय में कहा है, जो सारे भारतवर्ष में प्रचलित थी, और नागरी-लिपि में लिखी जाती थी। यह भाषा हिंदी के अतिरिक्त और कौन-सी हो सकती है ?

जॉन आगिलबी ने सन् १६७३ ईसवी में एक बड़ी पुस्तक एशिया के संबंध में लिखी है, जिसमें उसने नागरी को लिपि तथा भाषा दोनो बतलाया है, और लिखा है कि मधुर हिंदोस्तानी भाषा बाईं ओर से सीधी ओर को लिखी जाती है। भला सोचने की बात है कि क्या यह भाषा हिंदी के अतिरिक्त कोई दूसरी हो सकती है ? विदेशी यात्रियों की ये सूचनाएँ हमने डॉ० ग्रियर्सन साहब के 'Linguistic Survey of India' नाम के ग्रंथ से ली हैं। वैसे भी उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँ के समय से मानी जाती है। विजेता मुसलमान हमारे घरों से दूर कोठियों में नहीं रहते थे, और न वे यहाँ से लौटकर चले जाने की इच्छा से यहाँ आए थे। वे हमारे मोहल्लों और गलियों में रहते थे, बाजारों में दूकानें करते थे, यहाँ के करोड़ों हिंदुओं ने भी उनका धर्म स्वीकार कर लिया था, और उन्हीं में घुल-मिल गए थे। बहुत-से हिंदुओं ने उनके यहाँ नौकरी कर ली थी ; बहुत- से उनके यहाँ 'पिलुआ गुदड़ी तौल वाई' करने जाया करते थे। इन्हीं सब कारणों से फ़ारसी-अरबी के शब्दवाली हिंदी की जड़ जम गई।

अगर अँगरेज लोग भी इसी तरह हिंदोस्तानियों से घुल-मिल जाते, तो ऐंग्लो- हिंदोस्तानी भाषा की जड़ जमना असंभव नहीं था, न है। वह उर्दू-हिंदी पहले मुसलमानों और हिंदुओं में पारस्परिक भाव प्रकट करने के काम में आई। मनचले लोग इसमें कविता करने लगे। उसमें कुछ ढंग था, कुछ बात थी। वह कविता पसंद की जाने लगी। बादशाहों और नवाबों ने उसे अपनाया। उन्नति का अवसर उसके हाथ आया। धीरे-धीरे उसने साड़ी उतारकर पाजामा पहन लिया। दरबारों में उसका ज़िक्र होने लगा। सचमुच ऐसा ही फिर हो, यदि अँगरेज़ लोग भी मुसलमानों की तरह यहाँ अपना घर बनालें, और ऐंग्लो-हिंदोस्तानी की कविता को प्रोत्साहन दें। बोल-चाल की ठेठ भाषा में भी रचना हुआ की, किंतु उसमें कोई समर्थ कवि न हुआ। हुआ भी तो चमकने न पाया, क्योंकि उसकी पहुँच बडे-बड़े आदमियों तक न थी। उस समय नई अर्थात् फ़ारसी- अरबी शब्दोंवाली की यों पूछ हुई, पुरानी का कोई धनी-धोरी न रहा। इसमें सुंदरता की कमी न थी, मधुरता भी बहुत थी, लोच भी था ; पर अवसर न मिला। किंतु जन-साधारण की भाषा होने के कारण यह जीवित रही। यह रूप अमर है, और सदा जीवित रहेगा। अब इस पर से साढ़साती सनीचर की दशा निकल गई है। और भाषाओं की तरह इसका साहित्य भी दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। इसमें ग्रंथ बनते हैं—सरस पद्य-रचनाएँ

होती हैं। इसने संस्कृत के शब्द-रत्नों से अपने को सजाया है, पर पुरानी लकीर के फ़क़ीर इसके रूप और सिंगार से चिढ़ते हैं। उन्हें इसमें कुछ भी नहीं दीखता। अपनी-अपनी समझ है—अपनी-अपनी रुचि है।

२. हिंदी-साहित्य का विकास

हिंदी-साहित्य की उत्पत्ति की खोज करने के लिये जब हम अपनी दृष्टि बहुत दूर फेंकते हैं, तब हमको दिखलाई देता है कि उधर अपभ्रंश अपना रूप बदल रही है, और इधर, उसके साथ-ही-साथ, पुरानी हिंदी का साहित्य तैयार हो रहा है। हिंदी का साहित्य कोई बाज़ीगर का पेड़ नहीं है, जिसके कल्ले, थोड़ा-सा पानी देने से थोड़ी ही देर में फूट आए हों। यह, धीरे-धीरे, सैकड़ों बरसों में, अपनी इस सूरत को पा सका है। किसी जाति को—जीवित रहने में—साहित्य कहाँ तक सहायता पहुँचा सकता है, कहाँ तक उसे मरने से बचा सकता है, इस बात की जाँच यदि कोई करना चाहे, तो हिंदी के साहित्य को देखे। हिंदी की बहुत पुरानी कितनी ही रचनाएँ हमें एक ऐसी भाषा में मिलती हैं, जो अपभ्रंश भी कही जा सकती हैं, और पुरानी हिंदी भी। इन रचनाओं के अनेक उदाहरण पहले परिच्छेद में दिए जा चुके हैं, और यह भी बतलाया जा चुका है कि आचार्य हेमचंद्र ने उन उदाहरणों को अपभ्रंश का माना है। यह भी कहा जा चुका है कि उन उदाहरणों में पुरानी हिंदी और कुछ दूसरे प्रांतों की भाषाओं के रूप साफ़ झलक रहे हैं; इसलिये उस भाषा को, जिसको हेमचंद्र ने अपभ्रंश माना है, और जो पुरानी विकसित हिंदी

की मा थी, हम आजकल की हिंदी की दादी कह सकते हैं। ऊपर पुष्प, खुमान, राजानंद, मसऊद, क़ुतुबअली, साईं-दान, अकरमफ़ैज़ और दूसरे कुछ ऐसे कवियों का, जिन्होंने उस समय की भाषा में रचना की है, उल्लेख किया जा चुका है। इनमें से कई कवि भाट या चारण थे। संस्कृत के पुराने ग्रंथों में हमें चारण जाति का नाम मिलता है। जहाँ कहीं यश गाने का प्रसंग आया है, वहीं गंधर्वों और अप्सराओं के साथ चारणजी भी डटे हुए हैं। संस्कृत के ग्रंथों में चारणों को मनुष्य न मानकर चाहे भले ही आधा या चौथाई देवता या और कुछ माना गया हो, किंतु हम देखते हैं कि राजपूताने की चारण जाति हज़ारों बरस से वही काम करती आई है, जिसका उल्लेख संस्कृत के ग्रंथों में है। इनको तथा भाटों को, कवि के अतिरिक्त, पुराने समय का इतिहास-लेखक या इतिहास-रक्षक कहा जाय, तो अनुचित न होगा। हाँ, अपने वर्णनों में जो गरम मसाला इन्होंने मिला दिया है, वह अवश्य अधिक है। सदा से ये लोग राजाओं के आसरे रहते रहे हैं, और इनको बड़ी-बड़ी जागीरें मिलती रही हैं। लड़ाई के समय ये सिपाहियों को उत्साह दिलाने के लिये उनके साथ रक्खे जाते थे, और यदि कभी आवश्यकता आ पड़ती, तो इनमें से कोई-कोई ज़ुबान के साथ तलवार भी चला दिया करते थे। तलवार चलाने के अतिरिक्त और सब काम ये कविता में ही करते थे। हाँ, यह अवश्य

कहा जा सकता है कि कभी-कभी इनकी कविता तलवार की धार से भी पैनी होती थी। कविता के मंदिर में जब हम दर्शन करने जाते हैं, तो अपभ्रंश-काल से ही कविता के पुजारियों में इनको पाते हैं। राजा लोगों ने जो सम्मान इन लोगों का किया, उसका बदला इन्होंने उनकी कीर्ति को अमर करके और उनकी बुराइयों पर सदा के लिये परदा डालकर बिलकुल चुका दिया।

गद्य के पीछे पद्य का जन्म होना स्वाभाविक है; किंतु संसार के लगभग सभी साहित्यों में जो पहली कृति हमको मिलती है वह पद्य में। कविता क्यों लिखी जाती है, यह प्रश्न दूसरा है। किसी कारण मनुष्य के हृदय में जब कुछ आनंद उमड़ता या ठेस लगती है, तब उसके हृदय की दशा कुछ विचित्र ही हो जाती है। इसी दशा को हम कविता की जननी कह सकते हैं। चारणों और भाटों के अलावा न-जाने कितने लोगों ने हिंदी में ईश्वर के गुण गाए होंगे, उसको धन्यवाद दिए होंगे, उसके सामने अपना दुखड़ा रोया होगा, लोगों को नीति के मार्ग पर चलाने के लिये उपदेश किए होंगे, अपनी-अपनी समझ के अनुसार संसार की असारता या सारता दिखाई होगी, सुंदर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया होगा; परंतु खोज करने पर भी उनकी रचनाओं का पता अभी तक नहीं चला। इसलिये जो कुछ हमारी आँखों के सामने है, उसी को देखकर कहना पड़ता है कि जो रचना हमारे

यहाँ सबसे पुरानी मिलती है, उसमें से अधिकतर भाटों और चारणों की है। शोक है तो यह कि इनकी रचना भी पूरी नहीं मिलती, समय के फेर से, राज्यों के ध्वंस होने से और दूसरे अनेक कारणों से जितनी सामग्री नष्ट हो गई उसका सौवाँ हिस्सा भी आज हमको नहीं मिलता।

पुष्प की अलंकारवाली पुस्तक और राजानंद, क़ुतुबअली आदि की रचनाएँ न मिलने के कारण बरबस हमको विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में चंद कवि ही अपने सामने दीखता है। चंद की रचना-शैली से यह बात टपकती है कि इसके पहले भी बड़ी अच्छी-अच्छी रचनाएँ हिंदी में हो चुकी थीं, हमारी भाषा को—यद्यपि वह मिश्रित-सी दीखती है—कुछ-न-कुछ प्रौढ़ता प्राप्त हो चुकी थी, और उसकी शैली में स्थिरता आ गई थी। भाटों और चारणों के संबंध में जो बात पहले कही गई है, चंद का जीवन उसका एक नमूना है। लाहौर का रहनेवाला यह भाट राजा पृथ्वीराज के दरबार में आकर रहा। जैसा अवसर पड़ा इसने लेखनी और खड्ग दोनो से काम लिया, और अंत में पृथ्वीराज के साथ ही शरीर छोड़ दिया। उसको अमर करने की धुन में आप भी अमर हो गया। अगर चंद ने पृथ्वीराज-रासो (जिसमें पीछे से बहुत कुछ ऊटपटाँग मिलाया गया है) न लिखा होता, तो दाहिर की तरह आज पृथ्वीराज का भी हमको बस नाम-ही-नाम मिलता। इसका समकालीन जगनिक कवि महोबे के

परमाल राजा के यहाँ था, जिसने आल्हा लिखा। शोक है, जगनिक का भी असली ग्रंथ नहीं मिलता। जगनिक की रचना के नाम से जो कुछ मिलता है, उसमें भी ऊटपटाँग की कमी नहीं है। चंद का बेटा 'जल्हण' भी अच्छा कवि था। पृथ्वीराजरासो का कुछ हिस्सा इसका भी लिखा हुआ है। इसका रहना अधिकतर चित्तौड़ में हुआ। चंद की रचना के उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। यहाँ जल्हण की रचना का एक नमूना दिया जाता है, जिससे पाठकों को ज्ञात हो जाय कि बाप की रचना-शैली से बेटे की रचना-शैली कहाँ तक मिलती है—

प्रथम वेद उद्धार बंभ मछहत्तन किन्नो ;
दुतिय बीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नो।
कौमारक नभ देस धरम उद्धरि सुर सष्षियं ;
कूरम सूर नरेस हिंद हद उद्धरि रष्षिय।
रघुनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि ;
पृथ्वीराज सुजस कबिचंद कृत चंद नंद उद्धरिय तिमि।

मतलब यह कि हनुमान्-कृत रघुनाथजी के चरित का उद्धार जैसे राजा भोज ने किया, उसी प्रकार चंद कवि के वर्णन किए हुए पृथ्वीराज के सुयश का उद्धार चंद के बेटे ने किया।

इसी समय केदार कवि ने गोरी के सुल्तानों के वर्णन में एक ग्रंथ बनाया था।

यह समय वह था, जब हिंदू राजा इधर तो आपस में लड़कर क्षीण हो रहे थे और उधर मुसलमानों के हमले उन्हें दुर्बल कर रहे थे। इसलिये इस समय की जो रचना हमें मिलती है, उसमें लड़ाई-भिड़ाई का वर्णन अधिक दीखता है। अचरज तो इस बात का है कि इसके साथ ही और-और बातों का वर्णन—और सो भी इतना अच्छा—मिलता ही क्यों है ? यह समय राजपूताने और उत्तरी भारत के लिये बड़ी भारी उथल-पुथल और ऊधम-दंगे का था। तेरहवीं की भाँति विक्रम की चौदहवीं शताब्दी भी लड़ाई-भिड़ाई में ही बीती, परंतु इसमें भी रासाओं को छोड़कर और कई प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। रासाओं में हम्मीररासा, विजयपालरासा और बीसलदेवरासा विशेष महत्त्व के हैं। पिछले दो के लेखन-काल के विषय में मतभेद है। हम्मीर-रासो में हम एक ठेठ राजपूत को देखते हैं, जो शरण आए हुए एक विदेशी और विधर्मी की रक्षा के लिये धूल में मिल जाता है। पीछे से हम्मीर पर और भी दो-एक पुस्तकें लिखी गईं। हम्मीररासा शार्ङ्गधर नाम के एक कवि का लिखा हुआ है, जिसने और भी कई पुस्तकें लिखी थीं। इसी शताब्दी में अमीर खुशरो ने रचना की, जिसके विषय में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है, और जिसके कई उदाहरण भी दिए जा चुके हैं। अमीर खुसरो की रचना में हमें उस समय की अपनी सामाजिक दशा का एक धुधला-सा

चित्र दीख सकता है, और सो भी बड़े ध्यान से देखने पर। कई कारणों से ख़ुसरो की रचना बड़े महत्त्व की समझी जाती है। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह खड़ी बोली के उस स्वरूप को दिखलाती है, जो उस समय प्रचलित था और जिसमें इतनी सुंदर रचना हो सकती थी। उस समय की भाषा पर पड़ोसी भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा था, वह भी 'क्यों सखि साजन ना सखि दीया' की भाँति उसमें स्पष्ट चमकता है। जैसे चंद कवि मिश्रित हिंदी का पहला कवि नहीं था, उसी तरह ख़ुसरो भी खड़ी बोली का पहला कवि नहीं था; जिन कारणों से चंद कवि को मिश्रित हिंदी का पहला कवि कहना पड़ता है, उन्हीं कारणों से ख़ुसरो को भी खड़ी बोली का पहला कवि। इसी समय मुल्ला दाऊद नाम का एक और भी हिंदी-लेखक था। और भी बहुत-से लेखक रहे होंगे, किंतु सबकी रचनाएँ मिलतीं नहीं।

विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हमें एक महात्मा के दर्शन होते हैं। यह महात्मा हैं बाबा गोरखनाथ-जी। आडंबर और छुआछूत से भरे हिंदू-धर्म की मुठभेड़ जब एक हाथ में क़ुरानसरीफ़ और दूसरे में तलवार लिए हुए इस्लाम से हुई, तब ऐसे सिद्धांतों का आविर्भाव होना स्वाभाविक था, जैसे कबीर और उनके गुरु रामानंद आदि संतों ने फैलाए। इस संत-मत के विषय में आगे कुछ कहा

जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि संतमत से गोरखनाथजी का कोई सीधा संबंध नहीं था, यद्यपि इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गोरखनाथजी की शिक्षाओं का बड़ा भारी प्रभाव संतमत पर पड़ा है। गोरखनाथजी मुछंदरनाथजी के शिष्य थे, जिनका नाम हठयोग की पुस्तकों में मत्स्येंद्रनाथ लिखा मिलता है। गोरखनाथजी हठयोग में पूरे थे, इसलिये भाँति-भाँति के चमत्कार इन्होंने दिखलाए, और शैवमत का उद्धार किया, जो आजकल भी गोरख-पंथ कहाता है। संभव है, यदि गोरखनाथ-सरीखे महात्मा शैवमत का उद्धार न करते, तो इधर संतमत और उधर वैष्णव-धर्म की चपेट से यह कैलाश-वास ही कर जाता। गोरखनाथजी का मंदिर अब भी गोरखपुर में बना हुआ है। इन्होंने कोई पचास पुस्तकें संस्कृत और हिंदी में लिखी। इनकी हिंदी-कविता का नमूना लीजिए—

> अवधू रहिया हाटे बाटे रूष बिरष की छाया ;
> तजिबा काम, क्रोध, लोभ, मोह संसार की माया।
> आप सुगुसरियनंत विचार, पंडित निद्रा अल्पअहार।

अब इनके गद्य की भी बानगी देखिए—

"मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ। आतमा जोति निश्चल है अंतहकरन जिनकौ अरु मूल द्वार तै छह चक्र जिन नीकी तरह जाने।"

धर्म के नाम पर अनगिनिती ढोंगों को अपने जीवन

का आधार बनानेवाली हिंदू-जाति को, समानता और भ्रातृभाव का झंडा उड़ानेवाली मुसलमान-जाति के धक्के से जो आघात पहुँचता, उसको आज कोई कहनेवाला भी न होता, यदि इस समय भक्त और संत कवियों ने, इस गिरती हुई छत को, सहनशीलता, समझदारी और श्रद्धा से भरे हुए नए सिद्धांतों की धरन लगाकर, न रोका होता। वैदिक और पौराणिक धर्म की संस्कृत में व्याख्या करने और बात-बात पर शास्त्रार्थ करनेवाले पंडित लोग बेपढ़े या केवल हिंदी-पढ़े हिंदुओं के किस काम के थे! निश्चय था कि हज़ारों बरसों से जिन जातियों पर अत्याचार किया जा रहा था, वे अपना धर्म छोड़ बैठतीं; किंतु इस समय एक बात ऐसी हो गई, जिससे यह डूबती नाव किनारे लग गई। इस समय कम पढ़ी या बेपढ़ी, ऊँची जातियों को प्रेम और भक्ति का तत्त्व समझाने के लिये यदि सूर और तुलसी-सरीखे महाकवि पैदा हो गए, तो बेपढ़ी, गँवार और सामाजिक अत्याचार से कुचली हुई शूद्र-जाति को धर्म पर दृढ़ रखने के लिये रैदास चमार, नामदेव दरज़ी, सेना नाई आदि महात्मा पैदा हो गए, जिनके सिद्धांत, निर्मलता, स्वाभाविकता और सत्य-प्रतिपादन में, किसी भी धर्म के सिद्धांतों से कम नहीं हैं। इस समय जगह-जगह संत और भक्त पैदा हो गए, मानो हिंदू-धर्म की रक्षा के लिये कई शरीर धारण करके भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने 'यदा यदा हि

धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्'-वाली अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया।

मिथिला के कोकिल—विद्यापति ठाकुर—का भी यही समय है। आपका आसन, भक्त कवियों में, बहुत ऊँचा है। आपकी रचना में शृंगार-रस भी भरपूर है। आपने नाटक भी लिखे हैं। मिथिला में आपके गीतों को वही स्थान प्राप्त है, जो इन प्रांतों में मीरा, तुलसी या सूर के गीतों को। वंग-भाषा के विद्वान् आपकी रचनाओं का उतना ही आदर करते हैं जितना हिंदीवाले। मिथिला में आपकी शैली का, आपके समय से ही, बहुत कुछ अनुकरण किया जाता रहा।

स्वामी रामानंद को लीजिए। यह वैष्णव-मत के चलाने-वाले श्रीरामानुजाचार्यजी के संप्रदाय में थे। इन्होंने उत्तरीय भारत में रामानंदी मत फैलाया। कबीर, सेना नाई, पीपाजी (जिन्होंने अपना राजपाट छोड़कर फ़क़ीरी ले ली थी), धना जाट, रैदास चमार आदि संत इन्हीं के शिष्य थे। हिंदी-काव्य-संसार के सूर्य गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामानंदी ही थे। जिन संतों के नाम लिए जा चुके हैं, उनके तथा उनके दूसरे गुरुभाइयों के हृदय-रूपी खेत में स्वामी रामानंदजी का उपदेश-रूपी बीज, भूमि और जल-वायु के अनुसार, तरह-तरह से उगा और फूला-फला। यह इसी का परिणाम है कि कबीर-पंथी और रैदासी एक ही संप्रदाय के होते हुए भी एक नहीं हैं, अर्थात् कुछ थोड़ा-बहुत भेद इनमें और इन-जैसे

दूसरे संप्रदायों में पाया जाता है। यह भेद उतना सिद्धांतों में नहीं है, जितना ऊपरी बातों में। इन संतों के कारण हिंदी-साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। इनके अनेक शिष्यों ने भारत-भर में घूम-घूमकर इनके सिद्धांतों का प्रचार किया, और यों प्रांत-प्रांत के निवासियों का हिंदी से परिचय हुआ, और हिंदी का मान बढ़ा। इनके वचनों में खरापन, भक्ति और प्रेम कूट-कूटकर भरा था। रैदास का एक पद देखिए—

अब कैसे छुटै नाम-रट लागी।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी, जाकी अँग-अँग बास समानी;
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा;
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति जगै दिन-राती;
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोनेहि मिलत सुहागा;
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।

इन संतों ने न केवल शूद्रों ही को बल्कि अपने ऊँचेपन की ऐंठ में रहनेवाली दूसरी जातियों को भी ईश्वर से मिलने का सीधा मार्ग बतलाया है। ये महात्मा एक ओर तो सब धर्म के पेड़ को भक्ति के जल से सींच रहे थे, और दूसरी ओर उस पेड़ की बेतरह बढ़ी हुई और रास्ता चलतों को व्यर्थ कष्ट देनेवाली डालों की काट-छाँट में लगे हुए थे।

इन संतों में कबीरदास का आसन सबसे ऊँचा है। कबीर-दासजी हिंदू थे, किंतु जन्म से ही एक मुसलमान जुलाहे के घर पले थे। स्वामी रामानंदजी के उपदेशों को दूसरे लोगों

से जो सुना, तो स्वामीजी के मुख से नियमानुसार मंत्र की दीक्षा लेकर शिष्य होने के लिये उतावले हो गए। किंतु नीच जाति के होने के कारण उन तक उनकी पहुँच कहाँ! परंतु कहा है कि 'उतावला सो बावला।' कबीर ने एक उपाय किया, और वह यह कि काशी के मणिकर्णिका-घाट पर, जहाँ बड़े सबेरे-अँधेरे ही रामानंदजी स्नान करने आया करते थे, जा डटे। जब स्वामीजी गंगास्नान करके लौटने लगे, तब यह वहीं उनका रास्ता रोककर लेट गए। स्वामीजी को अँधेरे में कुछ दीखा-भाला नहीं। उनका पैर इन पर पड़ गया। स्वामीजी ने यह सोचकर कि न-जाने किस पर पैर पड़ गया 'राम राम राम राम' कहा। बस, कबीरजी उसी दिन से स्वामीजी के सिद्धांतों का प्रचार करने और अपने को खुल्लम-खुल्ला उनका शिष्य बतलाने लगे। कबीर के मुसलमान संबंधियों ने रामानंदजी को उलाहना दिया। रामानंदजी ने कबीर को बुलाकर पूछा कि क्यों रे, हमने कब तुझे मंत्र दिया है, जो तू अपने को हमारा शिष्य बतलाता है। कबीर ने जवाब दिया कि महाराज, और लोग तो कान में मंत्र देते हैं, परंतु आपने तो मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे मंत्र दिया है! कबीर की इतनी भक्ति देखकर स्वामीजी ने इन्हें अपनी छाती से लगा लिया, और अपना शिष्य स्वीकार किया।

रामानंदी संप्रदाय के संतों के विचारों में एक दूसरे से जो थोड़ा-बहुत भेद इस समय दीखता है, वह आगे जाकर और

भी बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, देखिए, तुलसीदासजी और कबीर के विचारों में कितना भेद है। गुसाईंजी अवतार के माननेवाले और सगुण ब्रह्म की उपासना के प्रचारक हैं, परंतु कबीरजी मूर्ति-पूजा और अवतार का बेतरह खंडन करते हैं। तुलसीदास धर्म-पथ से डिगाती हुई हिंदू-जाति की नाव को साकार-भक्ति के डाँड़ से खेकर किनारे लगाना चाहते हैं; कबीर संसार के धर्मों में से ढोंग को दूर करके निर्गुण ब्रह्म के सामने सबको एक किया चाहते हैं, जिससे न तो नाव में बोदापन रह जाय और न सर्वनाश की नदी में उस नाव को डुबा लेने के योग्य गहराई। कबीर बड़े भारी सुधारक हुए हैं। उन्होंने सब बातें निडरपन के साथ साफ़-साफ़ कही हैं। घट-घट-व्यापी ब्रह्म को मूर्तियों में पूजना उनकी समझ में मूर्खता थी। इसीलिये उन्होंने कहा है—

> दुनिया ऐसी बावरी पत्थर पूजन जाय ;
> घर की चकिया काहे न पूजै जिसका पीसा खाय।

मुसलमानों के धर्म में भी उन्हें ढोंग दीखा, इसलिये उनको भी उन्होंने फटकारा है—

> काँकर पाथर जोरिकै मसजिद लई बनाय ;
> ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय ?

इस समय धर्म के नाम पर जो अशांति फैली हुई थी, उसको उन्होंने बेमतलब की झाँयँ-झाँयँ समझा—

साधो देखो जग बौराना :
साँचि कहौ तो मारन धावै झूठे जग पतियाना ।
हिंदू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना ;
आपस में दोऊ लड़े मरत हैं मरम कोई नहीं जाना ।

राम और रहीम को वह एक ही रूप में सारे संसार में व्यापक देखते हैं। हिंदू-धर्म के गड़बड़झाले की और पंडित कहलानेवाले पाखंडियों की उन्होंने वह धज्जियाँ उड़ाई हैं कि जिसका नाम ।

अच्छा, तो अब हम विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में आते हैं। इस शताब्दी में भी चरणदास, धरमदास, भगोदास आदि अनेक संत और भक्त संसार को सुधारने और उसे भक्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाने में लगे हुए दिखलाई देते हैं।

कबीर का पुत्र कमाल था। इसका मत अपने पिता से नहीं मिलता था। तुलसीदासजी की भाँति यह भी हिंदू-अवतारों आदि पर श्रद्धा रखता था, जब कि कबीर सब झंझटों से दूर थे। इसके विषय में कबीरजी स्वयं कहते हैं—

बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल ;
हरि का सुमिरन छाँड़िके घर ले आया माल ।

इसी शताब्दी में बाबा नानक हुए हैं, जिन्होंने हिंदू-मुसलमानों को मिलाने के लिये अपना पंथ चलाया, जो पीछे से सिक्ख-मत कहलाया। इन्होंने हिंदुओं के तीर्थों के साथ ही मक्का शरीफ़ की भी यात्रा की थी। इनकी रचनाएँ ग्रंथसाहब में हैं जो कि सिक्खों का वेद है। इन्होंने

तथा इनके शिष्यों ने बहुत कुछ हिंदी-सेवा की है। इनकी रचना का एक नमूना लीजिए—

साधो मन का मान तिआगउ ;
काम क्रोध संगति दुरजन की ताते अहिनिसि भागउ।
सुख दुख दोनो सम करि जानैं अउर मान अपमाना ;
हरष सोग ते रहै अतीता तिन जगतत्त्व पिछाना।
असतुति निंदा दोउ तिआगै खोजै पद निरबाना ;
जन नानक इह खेल कठिन है किनहू गुरमुख जाना।

ग्रंथसाहब में नानकजी की ही नहीं, और भी कितने ही ऐसे संतों की रचनाएँ पाई जाती हैं, जिनके सिद्धांत नानकजी के सिद्धांतों से मिलते-जुलते हैं।

इसी शताब्दी में श्रीवल्लभाचार्यजी भी हुए हैं, जो वैष्णव-मत के वल्लभीय संप्रदाय के संस्थापक थे। हिंदी का जो उपकार रामानंदजी और उनके शिष्यों द्वारा हुआ है वही वल्लभाचार्यजी और उनकी शिष्य-परंपरा द्वारा हुआ है। उनके और उनके पुत्र विट्ठलनाथजी के आठ शिष्य मुख्य थे जो अष्टछाप के कवि कहलाते हैं। ये सूरदास, कुंभनदास, गोविंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नंददास, कृष्णदास और परमानंददास थे। इनमें से लगभग सभी का रचना-काल सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक चला जाता है। ये सभी बहुत अच्छे कवि थे। सूरदास के विषय में कुछ कहना तो मानो सूरज

को दीपक से दिखाना है। इन आठ को छोड़कर और भी अनेक शिष्य थे जिन्होंने अपनी सुंदर रचनाओं से हिंदी को सजाया है। इन सबने वल्लभीय सिद्धांतों की धूम मचाकर श्रीकृष्ण की उपासना की एक गंगा बहा दी थी, जिसने समय के प्रभाव से मलीन हुए हिंदुओं के हृदयों को धोकर पवित्र कर दिया। सच पूछिए तो इन्हीं की कृपा से हिंदी-काव्य-संसार में व्रजभाषा को वह ऊँचा आसन मिला कि आज तक भी लोग देखते हैं।

अनन्य संप्रदाय के संस्थापक गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजी का जन्म संवत् १५५९ में हुआ था। ये अपनी जन्म-भूमि देव-वंद से वृंदावन में आ बसे थे। इनकी कविता, मधुरता और भावों में, कहीं-कहीं सूरदासजी की भी कविता को मात करती है। इनके भी सैकड़ों-हजारों ही शिष्य कवि थे, जिन्होंने हिंदी-साहित्य के भांडार को खूब ही भरा।

वह भाषा ही क्या जो विदेशियों के चक्कर में पड़कर नष्ट हो जाय, और वह कविता ही क्या जो उदासीनों को भी बस में न कर ले? हिंदी-भाषा की दृढ़ता और उसकी कविता की मोहिनी-शक्ति सैकड़ों बरसों से प्रमाणित होती रही है। चंद कवि के भी पहले से मुसलमान इसमें कविता करते थे। उसके पीछे भी कितने ही मुसलमान कवि हुए; किंतु इस समय तक जितने हुए उनमें मलिक मोहम्मद जायसी का आसन सबसे ऊँचा है। इस मुसलमान संत

ने पद्मावत और अखरावट नाम की दो पुस्तकें लिखीं। पद्मावत में सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मिनी का विवाह चित्तौड़ के राजा रतनसेन के साथ होना, फिर उसके लिये सुलतान अलाउद्दीन का चित्तौड़ को घेरना, क़िला न टूटने पर धोखा देकर राजा रतनसेन को क़ैद कर ले जाना, गोरा और बादल की चतुरता से रतन-सेन का क़ैद से छूटना, लड़ाई में गोरा का मारा जाना, फिर राजा देवपाल से युद्ध होना और दोनो राजों का मारा जाना, पद्मिनी का सती हो जाना आदि घटनाएँ वर्णित हैं। लेखक ने, मुसलमान होने पर भी, अपने धर्मवालों का कहीं अनुचित पक्षपात नहीं किया है, और न कहीं खरेपन को हाथ से जाने दिया है।

इस पुस्तक की रचना दोहे-चौपाइयों में की गई है। बैसवाड़ी हिंदी के, जो पीछे तुलसीदासजी की रचनाओं के कारण अमर हो गई, मलिक मोहम्मद पहले महाकवि थे, जिनकी रचना उपलब्ध है।

यही समय मीरा बाई का था, जिसको रानीपन छोड़कर फ़क़ीरी की धुन लगी थी। कम-से-कम गुजरात, राजपूताने और इन प्रांतों में ऐसा कोई हिंदू-घर न होगा, जहाँ मीरा के गीत आज भी भक्ति और श्रद्धा के साथ न गाए जाते हों। हमारा तो विश्वास है कि हमारे यहाँ स्त्रियों में जो धर्म की लगन दिखाई देती है, उसका एक मुख्य कारण मीरा का

जीवन है। यही समय 'टट्टियोंवाली' वैष्णव-संप्रदाय के संस्थापक हरिदास स्वामी का भी है, जो गान-विद्या में तानसेन के गुरु थे, और स्वयं बादशाह अकबर जिनके दर्शन करने के लिये भेष बदलकर वृंदावन गए थे। वैसे शायद स्वामीजी अकबर को गाना न सुनाते, इसलिये तानसेन से इनके सामने गाते समय जान-बूझकर कुछ भूल कर दी, जिसको सुधारने के लिये स्वामीजी ने स्वयं गाया, और अकबर ने सुनकर अपने को धन्य समझा। इनके भी सैकड़ों ही शिष्य हुए, जो बड़े अच्छे कवि थे। उनकी रचनाओं से भी हिंदी-साहित्य की खूब वृद्धि हुई। उनका रचना-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक चला जाता है।

अकबर के ही समय में गंग कवि भी उपस्थित था, जिसका रचना-काल जहाँगीर के समय तक चला जाता है। यह बड़ा नामी कवि था, यहाँ तक कि प्रसिद्ध कवि दास ने यह कह डाला है कि 'तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।' परंतु खेद है कि इस 'सुकविन के सरदार' की बहुत ही कम रचना अब तक मिली है।

इसी शताब्दी के अंतिम चरण में गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म हुआ, जिनके विषय में जो कुछ कहा जाय, थोड़ा है। गोस्वामीजी की सभी रचना विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में हुई। संवत् १६८० में उन्होंने शरीर छोड़ दिया। गोस्वामी-जी की रचना व्रजभाषा और बुंदेलखंडी-मिश्रित बैसवाड़ी

हिंदी में है। उसकी प्रशंसा देशी-विदेशी सभी करते हैं। उन्होंने पुस्तकें तो अनेक लिखीं, परंतु 'विनय-पत्रिका' और 'रामचरित्र-मानस' के बराबर लोकप्रियता किसी को प्राप्त नहीं हुई।

जैसे आजकल देश-भक्ति की हवा चल रही है, उसी प्रकार उस समय ईश्वर-भक्ति या यों कहिए कि अवतार-भक्ति की हवा चली थी, और कोई भी सुकवि उसके प्रभाव से बचने न पाया था, चाहे उसका संबंध वैष्णव-धर्म के किसी संप्रदाय से हो या न हो। दूसरे प्रांतों में भी उस समय भक्ति का सागर उमड़ पड़ा था। शृंगार और भक्ति के संगम में स्नान करके लोग कृतकृत्य होते थे। इन दिनों की रचना का नमूना दिखाने के लिये नरोत्तम कवि के सुदामा-चरित्र में से दो सवैए दिए जाते हैं—

(१) स्त्री के बहुत कुछ कहने-सुनने पर सुदामाजी अपने पुराने मित्र श्रीकृष्णजी के दर्शन करने द्वारिका आए। बेचारे इतना बड़ा नगर देखकर चकरा गए। कोई किसी की बात नहीं पूछता। सब अपने-अपने कामों में लगे हुए हैं। सुदामाजी इधर-उधर पूछते-पाछते श्रीकृष्ण की ड्योढ़ियों तक आ पहुँचे। द्वारपालों से कहा कि हम श्रीकृष्णजी से मिलना चाहते हैं। पहले तो उन्होंने उन्हें खूब बनाया, फिर बड़ी कठिनाई से उनमें से एक द्वारपाल श्रीकृष्णजी के पास जाकर सुदामाजी का हुलिया बतलाता हुआ बोला—

सीस पगा न झगा तन में प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा ;
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु पायँ उपानहु की नहिं सामा ।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा ;
पूछत दीनदयाल कौ धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ।

(२) श्रीकृष्णजी सुदामा के पुराने सहपाठी थे—बचपन में एक ही गुरु के यहाँ पढ़ते थे। परंतु दोनो के भाग एक-से न थे। एक राजों के राजा थे, तो दूसरे कंगालों के कंगाल और महा दिवालिए। फिर भी जब श्रीकृष्ण ने सुदामा का नाम द्वारपाल के मुख से सुना, तब पुरानी बातों को याद करके उनसे मिलने को बेचैन हो गए। जब सुदामाजी उनके सामने आए तब उन्होंने क्या देखा कि सुदामाजी के पैर बिवाइयों से फट रहे हैं, और उनके पैरों में दो, चार, दस, बीस काँटे नहीं, बल्कि काँटों के जाल-के-जाल गड़े हुए हैं। दरिद्रता के ये सब चिह्न देखकर भगवान् को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि अरे मित्र, तुमने बड़े दुःख पाए; तुम अब तक यहाँ क्यों नहीं आए? अब तक कहाँ दिन खोए? करुणा के भंडार श्रीकृष्णजी सुदामा की दुर्दशा देखकर करुणा के मारे इतने रोए कि पैर धोने के लिये परात में जो पानी धरा था, वह वैसे-का-वैसा ही धरा रह गया, और सुदामाजी के पैर भगवान् के आँसुओं से ही धुल गए। कवि कहता है—

पायँ बिवाइन सो जु फटे अरु कंटक-जाल लगे पुनि जोए ;
हाय महादुख पायो सखा, तुम आए इतै न किते दिन खोए ।

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए ;
पानी परात को हाथ छुवौ नहिं नैनन के जल सों पग धोए ।

एक तो वैसे ही कविता की हवा चल रही थी, दूसरे अकबर-सरीखे बादशाह का राज, बस सोने से मानो सुगंध का मेल हो गया। यह समय हिंदी की उन्नति के लिये वैसा ही था जैसा कि अँगरेज़ी की उन्नति के लिये। इँगलिस्तान में इस समय महारानी एलीज़ेबेथ का राज था। इस समय अँगरेज़ी-साहित्य को यदि शेक्शपियर आदि जगत्प्रसिद्ध कवियों ने सजाया, तो हिंदी-साहित्य को भी तुलसीदास आदि जगत्-प्रसिद्ध कवियों ने अलंकृत किया। अकबर शाह के दरबार में हिंदी-कविता की बड़ी धूम थी। बादशाह स्वयं कविता करते थे, और उनके मुसाहब और सरदार (बीरबल, मानसिंह, अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना आदि) भी कविता करते थे। गंग आदि कवियों का बड़ा सम्मान था। कहा जाता है कि गंग के एक ही छंद पर रीझकर ख़ानख़ाना ने उसे ३६ लाख रुपए दे डाले थे। ख़ानख़ाना जैसे उदार थे, वैसे ही उत्तम कवि भी थे। तुलसीदासजी से भी इनकी बड़ी मित्रता थी। इन्होंने हिंदी में कई पुस्तकें बनाईं, जिनमें 'संतसई' बड़े महत्त्व की है। इनका झुकाव हिंदू-धर्म की ओर विशेष था। इनकी रचना में सादगी थी, और सीधी बात थी ; पर वह निकलती थी हृदय से। अंत में यह साधु हो गए, जैसा कि इनके इस दोहे से सूचित होता है—

ए रहीम दर-दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिं ;
यारो यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं ।

किंतु जब चित्रकूट में भ्रमण करते समय मँगतों ने पीछा न छोड़ा, तो इन्होंने रीवाँ के महाराज को यह दोहा लिख भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस ;
जा पै बिपता पड़त है, सो आवत यहि देस ।

इस दोहे पर प्रसन्न होकर महाराज ने एक लाख रुपए इनके अर्पण किए, जो इन्होंने भूखों-नंगों को बाँट दिए ।

मुसलमान बादशाहों के दफ़्तरों का सब काम इस समय तक हिंदी में होता था; किंतु टोडरमल ने हिंदुओं को उस समय की राजभाषा पढ़ने को बाध्य करने के लिये, या न-जाने क्यों, हिंदी की जगह फ़ारसी को बिठला दिया । बस, दफ़्तरों में फ़ारसी-अक्षरों और फ़ारसी-भाषा का दौर-दौरा हो गया, और आजकल कचहरियों की भाषा में जिन अपरिचित शब्दों और अस्वाभाविक वाक्यों की भरमार दीखती है, उनकी जड़ जमी । ये सब बातें सत्रहवीं शताब्दी की हैं । गद्य इस समय तक प्रांतीय भाषाओं में लिखा जाता था । 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' नाम की पुस्तकें इसका उदाहरण हैं ।

केशवदासजी का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हुआ था । केशवदासजी का हाल तो पहले ही दे दिया

जाना चाहिए था, किंतु खेद है, बेचारा धक्का-मुक्की में पिछड़ गया। केशवदासजी का स्थान हिंदी-कवियों में कितना ऊँचा है, यह बात इस दोहे से प्रकट हो जाती है—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास ;
अब के कवि खद्योत-सम, जहँ-तहँ करत प्रकास।

यह ओड़छे के रहनेवाले थे। अकबर के प्रसिद्ध मुसाहब बीरबल इनका बड़ा आदर करते थे। सुनते हैं कि केवल एक ही छंद पर रीझकर एक बार उन्होंने केशव को छ लाख रुपए दे डाले थे। अब तक हिंदी-काव्य में शृंगार और भक्ति का मेल किया जाता था; परंतु रसिकप्रिया, नख-शिख आदि पुस्तकें लिखकर केशवदास ने शृंगार-रस की चर्चा भक्ति से अलग भी की, और काव्य-विज्ञान के ग्रंथों का बीज-सा डाल दिया, जिससे साहित्य के खेत में जड़ की ओर से सरस और ऊपर की ओर से सूखा-सा एक अजीब पेड़ खड़ा हो गया, जिसमें पीछे से अन-गिनती—देखने में सुंदर किंतु नीरस—फल लगे, जो आज भी देखे जा सकते हैं। केशव की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक रामचंद्रिका है, जिसमें कई तरह के छंदों में रामचरित्र लिखा गया है। जैसे सूरदास आदि के कारण हिंदी का व्रजभाषा-रूप और तुलसीदास के कारण मिश्रित रूप काव्य-रचना के लिये टकसाली हो गया, उसी प्रकार केशवदास के कारण बुंदेलखंडी-रूप भी हो गया।

दादूपंथ के प्रवर्तक दादूदयालजी का भी जन्म विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही हुआ था। इनके विषय में भी कुछ पहले ही कह देना चाहिए था, किंतु सच्चे साधु होने के कारण इन्होंने आगे आने के लिये धक्का-मुक्की नहीं की, और पीछे रह गए। हमारा इसमें कुछ दोष नहीं—आप स्वयं सोच सकते हैं।

हिंदुओं को अपने धर्म पर दृढ़ रखने के लिये जो भक्ति-मार्ग निकला था, उसका प्रभाव विचित्र हुआ, और वह यह कि कितने ही विधर्मी लोग भी हिंदुओं के धर्म की बातों को मानने लगे, बल्कि कहीं-कहीं वे इन बातों में हिंदुओं से भी बढ़ गए। देखिए तमाशा! दिल्ली का रहनेवाला पठान रुस्तमख़ाँ आज गोवर्धन, गोकुल और वृंदावन की गलियों में श्रीकृष्ण के दर्शन करने आया है, और उनकी सेवा किया चाहता है; किंतु जब मंदिरों में नहीं घुसने दिया जाता, तब गोविंदकुंड पर तीन दिन तक बिना कुछ खाए-पिए पड़ा रहता है! अंत में गोस्वामी विट्ठलनाथजी को दया आती है। वह इसे अपना शिष्य कर लेते हैं, और हज़ारों हिंदुओं को नीचा दिखाकर यह उनके २५२ मुख्य शिष्यों में आसन पाता है! रुस्तमख़ाँ आज भक्ति के रस में पगकर रसखान हो जाता है। उसकी रचना हमें इस स्वार्थमयी पृथ्वी पर से उठाकर प्रेम और भक्ति के दिव्य लोक में ले जाकर कहीं रख देती है। बड़े-बड़े महात्माओं की रचना में जो बात होनी चाहिए, वही

इसकी रचना में भी देख लीजिए। ब्रज की भूमि इसे ऐसी सुंदर लगती है कि अगले जन्म में मनुष्य हो, तो गोकुल के ग्वालों में, पशु हो तो नंदजी की गायों में, पत्थर हो तो गोवर्धन पहाड़ में, और चिड़िया हो तो यमुना के तीर पर खड़े हुए कदंब के पेड़ की डाल पर बसेरा करने के लिये यह लालायित है। देखिए—

मानस हौं तौ वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ;
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो भयो ब्रजछत्र पुरंदर धारन ;
जो खग हौं तौ बसेरो करौं इन कालिंदी कूल कदंब की डारन।

ग्वालों की 'लकुटी' और 'कामरी' पर यह तीनो लोकों का राज छोड़ बैठने को प्रस्तुत है—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ;
आठहुँ, सिद्धि नवौं निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
रसखान कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ;
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।

बस कुछ पूछिए मत, ऐसे-ही-ऐसे भावों से इसकी रचना गुथी पड़ी है। इसे कोरा अंध-भक्त भी न समझिएगा, इसकी रचना में हिंदू-धर्म के भीतरी तत्त्व भी मिलते हैं। जहाँ दस भक्त इकट्ठे होते हैं, वहाँ हिंदी-साहित्य की चर्चा होती है, वहाँ रसखान का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई और नरसी मेहता को जो पद प्राप्त

हुआ है, और जिसके लिये हजारों हिंदू कवि ललचते रह गए, उसे इस जन्म के मुसलमान ने अपनी दृढ़ श्रद्धा के प्रताप से प्राप्त कर लिया! जिस भक्ति-मार्ग ने मैदान में तलवार लेकर लड़ने का व्यवसाय करनेवाले विधर्मी पुरुषों को यों मोह लिया, वह भला कोमल चित्तवाली स्त्रियों को क्यों न मोहता। अस्तु, इस समय हमें ताज नाम की एक मुसलमान स्त्री की, जो श्रीकृष्ण की बड़ी भक्त थी, कविता मिलती है। इसकी रचना का एक उदाहरण दिया जाता है—

छैल जो छबीला, सब रंग में रँगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला कहूँ देवतों से न्यारा है;
माल गले सोहै, नाक मोती सेत सोहै,
कान मोहै मन कुंडल मुकुट सीस धारा है।
दुष्ट जन मारे, संत जन रखवारे 'ताज',
चित हित वारे प्रेम प्रीति कर वारा है;
नंदजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा,
वह वृंदावनवारा कृष्ण साहेब हमारा है।

जाति-पाँति की छुआछुत के भूत को भक्ति के मंत्र ने बहुत कुछ भगा दिया था, इसी कारण इस समय हमें ऐसे कितने ही कवि दिखलाई पड़ते हैं, जिन्होंने ऊँची जाति के न होने पर भी अपनी सच्ची और दृढ़ भक्ति के कारण ऊँचा आसन पाया। इस समय सैयद इब्राहीम, क़ादिरबख्श, मुबारक, उसमान, ताहिर आदि कितने ही मुसलमान अच्छे

कवि हो गए हैं। बनारसीदास और महात्मा सुंदरदास भी इसी समय हुए। जटमल ने 'गोरा-बादल' की कथा गद्य में लिखी। इसकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली नहीं है, यद्यपि चेष्टा उसी में लिखने की की गई है। इसी सत्रहवीं शताब्दी में सेनापति, ध्रुवदास, चिंतामणि, मतिराम, भूषण, नीलकंठ, बेनी, बनवारी, महाराजा जसवतसिंह, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें से कई का रचना-काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी तक चला जाता है। इस समय कवियों का आदर खूब था, और हरएक जागीरदार, राजा और महाराजा उनको अपने यहाँ रखकर मनमाने ग्रंथ लिखवाता था। इस समय शुद्ध भक्तिमय शृंगार-रस का स्थान लौकिक शृंगार-रस ने लेना आरंभ कर दिया था। या यों कहें कि साहित्य के मैदान में से लौकिक शृंगार-रस ने अलौकिक शृंगार-रस को परलोकगामी बना दिया था। दूध को पानी से अलग रखने को जो बिधि केशवदास ने निकाली थी, उसी विधि से इस समय के कवि, दूध की परवा न करके, शब्दालंकारों की खाँड़ मिलाकर पानी-ही-पानी लोगों को पिला रहे थे, और लोग भी इस शर्बत के नए स्वाद से प्रसन्न होकर दूध की याद भूल चले थे।

केशवदास के पीछे जिन कवियों ने बड़ा भारी नाम पाया, उनमें बिहारी का आसन बहुत ऊँचा है। यह बिहारीजी विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पिछले आधे भाग में हुए। इन्होंने

अपने दोहों में शृंगार-रस के भाव बड़ी बारीकी के साथ दिखलाए हैं, और अश्लीलता को ख़ूब स्थान दिया है। इनकी सतसई के दोहों का क्रम ठीक कराने और टीका करने-कराने में काव्य-मर्मज्ञ मुसलमान सज्जनों का बहुत कुछ हाथ है। इनकी सतसई पर कितनी ही टीकाएँ निकल चुकी हैं, और अब भी निकलती जाती हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के कवियों में मतिराम भी बड़े समर्थ कवि हुए हैं। रसराज, ललितललाम आदि इनके ग्रंथ साहित्य के भूषण समझे जाते हैं; किंतु शृंगार-रस के और कवियों की भाँति, इनके गढ़े हुए भूषण भी ऐसे हैं, जो देखने में सुंदर हैं, किंतु जिनसे यदि देखा जाय, तो सामाजिक लाभ नहीं के बराबर है। हमारी यह बात कितने ही साहित्य-रसिकों को बुरी लगेगी, परंतु हमारा मतलब यह है कि जिस ढंग की कविता करने पर उस समय के बहुत-से कवि पिल पड़े थे, उससे पराधीन और विलासी राजों की विलास-प्रियता बढ़ने और जन-साधारण के हृदय कलुषित होने के अतिरिक्त जाति या देश को कुछ भी लाभ न पहुँचा। रचना-चातुर्य या शैली की दृष्टि से भूषण की कविता साधारण है, उसमें बहुत-से अनूठे भाव भी दिखलाई नहीं देते; परंतु स्वराज्य प्राप्त करने की चेष्टा में लगी हुई हिंदू-जाति को उठाने के लिये जो काम भूषण की कविता ने किया, क्या वह काम इन इतने सारे शृंगारवादी कवियों

की रचनाएँ मिलकर भी कर सकीं ? आज जो जगह भूषण के लिये हमारे हृदय में है, क्या वही जगह "चतुर चलाक चित्त चपला-सी चंद्रमुखी" के नखरों का वर्णन करने में बाल की खाल निकालनेवाले और बेचारे सुनने या पढ़नेवाले लोगों के चित्त को बैठे-ठाले नायिकाओं के हाव-भाव-कटाक्षों का शिकार बनानेवाले कवियों के लिये है ? गिरी हुई हिंदू-जाति को कोक-शास्त्र पढ़ाना ऐसा ही समझिए जैसा किसी निमोनिया के पुराने बीमार को विना काठी और लगाम के मस्त घोड़े पर चढ़ाकर घोड़े को चाबुक मार देना। इस-लिये हमारे विचार में तो इस ढंग के कवियों से जहाँ हिंदी-साहित्य का उपकार हुआ, वहाँ हिंदू-समाज का अपकार भी हुआ। ये बातें हमने प्रसंग-वश कह दी हैं, केवल मतिराम के लिये नहीं कहीं—मतिराम बेचारे ने तो कृपा करके वीर-रस की भी कुछ कविता लिखी है।

भूषण का नाम वीर-रस की कविता के लिये उतना ही है, जितना शृंगार-रस की कविता के लिये बिहारी या देव का। भूषण का रहना विशेषकर शिवाजी के यहाँ हुआ। बुंदेलखंड के राजा छत्रसाल ने भी इनका बड़ा सम्मान किया—यहाँ तक कि इनकी पालकी अपने कंधे पर उठाई। पहले यह औरंगजेब के यहाँ गए थे; परंतु उसने शिवाजी के साथ जो व्यवहार किया, उसे देखकर इनका मन उसकी ओर से एकदम फिर गया, और शिवाजी के यहाँ जाकर

हिंदुओं के स्वतंत्रता के युद्ध में इन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। इनकी रचना से इनके स्वभाव का परिचय मिलता है। उससे मुरदों की भी बोटी फड़कने लगती है।

संवत् १७१८ से १७८१ तक सबलसिंह चौहान ने महाभारत का अनुवाद पद्य में किया। संवत् १७२७ में कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' ग्रंथ पूर्ण किया। यह मम्मट के लिखे संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' के ढंग पर लिखा गया है।

यही समय सुखदेव मिश्र का है। कालिदास का समय इनके कुछ पीछे आता है। पन्ना के महाराज छत्रसाल जैसे वीर और दानी थे वैसे ही कवि भी थे। इनका जन्म संवत् १७०६ में हुआ था। अनन्य कवि का जन्म १७१० में हुआ था। यद्यपि इस समय नायिका-भेद और अलंकारों पर ही ग्रंथ अधिक लिखे गए, परंतु शृंगार-रस की इस छटा में भी वीर-रस की बिजली दिखलाई दे जाती है। इस शताब्दी में घनश्याम शुक्ल, वृंद, शृंगार-रस में बिहारी के भी कान काटनेवाले देव, बैताल बंदीजन, गुरु गोविंदसिंह, लाल, सूरति मिश्र, घन-आनंद, महाराजा विश्वनाथसिंह, खड़ी बोली में लिखनेवाले सीतल, कृष्णगढ़ के महाराजा सावंतसिंह उपनाम नागरीदास, भिखरीदास, भूपति, सोमनाथ, स्वामी श्रीहित वृंदावनदासजी, ठाकुर आदि और भी अनेक समर्थ कवि हो गए हैं, जिनमें से एक-एक के ऊपर एक-एक निबंध अलग-अलग लिखा जा सकता

है। इनके अतिरिक्त सहस्रों ही कवि और हैं, जिनकी रचना अवश्य कुछ-न-कुछ आकर्षण रखती है, और जिन्होंने अपनी समझ के अनुसार और उस समय के दूसरे कवियों का रुख देखकर हिंदी-साहित्य की वृद्धि की। खड़ी बोली में इस समय तक किस ढंग की रचना होने लगी थी, यह दिखलाने के लिये सीतल का एक छंद दिया जाता है—

मुख सरद चंद्र पर स्रम सीकर जगमगैं नखत गन जोती से ;
कै दल गुलाब पर शबनम के हैं कनके रूप उदोती से।
हीरे की कनियाँ मंद लगैं हैं सुधा किरन के गोती से ;
आया है मदन आरती को धर कनक-थाल में मोती से।

मुसलमान कवियों ने भी विक्रम की इस अठारहवीं शताब्दी में अच्छी रचनाएँ कीं। 'अंगदर्पण' और 'रस-प्रबोध' का लेखक सैयद गुलामनबी बिलग्रामी 'रसलीन' भी इसी शताब्दी के अंत में हुआ। शुद्ध ब्रजभाषा में इसने अनोखी रचना की है। इसका यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

अमी, हलाहल, मद-भरे, स्वेत, स्याम, रतनार ;
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।

यह आँखों की प्रशंसा है। नायिका की आँखें कैसी हैं कि उनमें अमृत, विष और शराब तीनो चीजें भरी हैं, जिससे उनमें सफ़ेदी है (जो कि अमृत का रंग है), कालापन है (जो कि विष का रंग है) और लाली है (जो कि मदिरा का रंग है) ; परिणाम क्या होता है कि जिसकी ओर वह

एक बार देख लेती है, वह जीता है (क्योंकि जीवित रखना अमृत का गुण है), मरता है (क्योंकि मारना विष का गुण है) और नशे के मारे झुक-झुक भी पड़ता है—यह मदिरा के कारण। 'न मरते हैं, न जाते हैं अजब हालत हमारी है'-वाला भाव कैसी सुंदरता और बारीकी से दरसाया गया है! 'पद्मावत' के ढंग पर लिखी गई प्रसिद्ध पुस्तक 'इंद्रावती' का लेखक नूरमुहम्मद भी इसी शताब्दी के पिछले चरण में हुआ। यह कवि ऐसे थे कि हिंदी-संसार को आज तक इनके लिये घमंड है! इनके अतिरिक्त साधारण कवि भी मुसलमानों में बहुत हुए हैं। आजकल जिधर देखिए, उधर खटमलों की धूम है; इस लिये, संवत् १७८७ के लगभग लिखी गई आगरे के अली-मुहिब्बखाँ 'प्रीतम' की 'खटमलबाईसी' नाम की पुस्तक में से एक छंद यहाँ देना अनुचित न होगा। खटमलों से घबराकर कवि कहता है—

बाघन पै गयौ देखि बन में रहे हैं छिपि,
साँपन पै गयौ तो पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयौ धूलि डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयौ काहू दारू न बताई है।
जब हहराए हम हरी के निकट गए,
हरी मोसों कही तेरी मति भूल छाई है;
कोऊ न उपाय भटकत जिन डोलै सुनै,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है।

सो बेचारे कवि को विष्णु भगवान् भी खटमलों से बचने का कोई उपाय न बता सके, उलटा उससे यह कह दिया कि तेरे मस्तिष्क में कुछ गड़बड़ी मालूम होती है! ऐसी दशा में यदि हम लोग बराबर बारहो महीने खटमलों की जान को रोया करें, तो अचरज की कौन-सी बात है?

गुरु गोविंदसिंहजी की कविता वैसी ही है, जैसे कि गुरु महाराज स्वयं थे। उसमें वीरता और निडरपन कूट-कूटकर भरा हुआ है। कहीं-कहीं तो पढ़ते समय ऐसा अनुमान होता है, मानो हम ऐसी जगह से निकल रहे हैं, जहाँ अभी मार-काट हो चुकी है। देखिए, गुरु महाराज ने पारसनाथ-चरित में तलवारों से कैसी होली खिलाई है—

इहि बिधि फाग कृपानन खेले ;
सोभत ढाल माल डढमालै मूठ गुलालन सेले।
लाल तुरंग भरत पिचकारी सूरन अंग लगावत ;
निकसत श्रोण अधिक छबि उपजत केसर जान सुहावत।
श्रोणत-भरी जटा अति सोभत छबिहि न जात कह्यौ ;
मानहुँ परम प्रेम सों डार्यो ईंगुर लागि रह्यौ।
जहँ-तहँ गिरत भए नाना बिधि साँगन सत्रु परोए ;
जानुक खेल धमार पसार कै अधिक अमित है सोए।

गुरु महाराज ने स्वयं कितने ही ग्रंथ लिखे, और कवियों को पुरस्कार देकर कितने ही लिखाए। भूषण या गुरु महाराज-सरीखे कवियों की रचनाएँ, हृदय से निकली हुई होने के

कारण, मन पर बड़ा प्रभाव डालती हैं, और टका-पंथी कवियों की रचना से बहुत भिन्नता रखती हैं।

अब विक्रम की १९वीं शताब्दी का हाल सुनिए। इसमें गुमान, दूलह, भगवंतराय खीची, सूदन, सहजोबाई, ब्रजवासी-दास, पद्माकर, दीनदयाल गिरि, ग्वाल, महाराजा, मानसिंह, महाराजा रघुराजसिंह, सरदार, बाबा रघुनाथदास, ललित-किशोरी, मुरारिदास, लछिराम, बलदेव आदि अनगिनती कवि हो गए हैं, जिनमें से कई का समय बीसवीं शताब्दी तक चला गया है। अठारहवीं शताब्दी के कवियों ने जो मार्ग पकड़ लिया था, इस शताब्दी के कवियों ने भी अधिकतर उसी पर चलना उचित समझा। तो भी भक्ति-विषयक रचना भी इस शताब्दी में हुई। सहजोबाई, सुदरि कुँवरबाई, ब्रजवासी-दास, बाबा रघुनाथदास, महाराजा रघुराजसिंह आदि की रचना ऐसी ही है। इस शताब्दी में वीर-रस के कहने में सूदन ने सबसे बाज़ी मार ली। यह कवि भरतपुर के संस्थापक राजा सूरजमल के यहाँ था। हमारी राय में इसकी रचना भूषण की रचना से किसी तरह कम नहीं है, केवल परिस्थिति की भिन्नता के कारण कुछ हलकी भले ही दिखलाई देती हो। इस कवि से बहुत-से सज्जन अपरिचित हैं, इसलिये इसके 'सुजान-चरित्र' नाम के ग्रंथ में से दो-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। मल्हारराव ने जब सूरजमल पर चढ़ाई की, तब का हाल सुनिए—(छंद की पहली दो पंक्तियों में मल्हारराव की प्रशंसा है)

हारे देखि हाड़ा मनमारे कमधुज बंस,
कूरम पसारे पायँ सुनत नगारे के;
केते पुर जारे केते नृपति सँहारे, तेई
जोरि दल भारे ब्रजभूमि पै हँकारे के—

बड़े-बड़े राजपूत राजा जिसके डर से थर-थर काँपते थे, ऐसा प्रतापी मल्हारराव अनेक नगरों को जलाता और राजों को मारता बड़े भारी दल को लेकर जब ब्रजभूमि पर चढ़ आया, तब क्या हुआ—

रारे मधुसूदन सँवारे बदनेस प्यारे,
ब्रज रखवारे निज बंस अवधारे के;
होत ललकारे सूर सूरज प्रताप भारे,
तारे-से छिपेंगे सब सुभट सितारे के।

सितारे के सुभट अर्थात् मराठे वीरों को तारे और सूरजमल को सूरज बनाकर वीर-रस को स्वामिभक्ति के साथ एक आसन पर क्या अच्छा बिठलाया है!

लड़ने के लिये जाते समय सूरजमल ने जब अपने को सजाया, उस समय का वर्णन कैसा सुंदर है—

ऐंठि बाँध्यौ मुकुट समेटि घुँघरारे बार,
कुंडल चढ़ाए कान कलँगी सुभट की;
जाँघिया जकरिकै अकरि अंगराग करि,
कटि में लपेटी कसि पेटी पीत पट की।

भृगुपति अंक ढाल सकति भ्रिया को चिह्न,
सूदन सनाह बनमाल लाल टटकी ;
कोटिन सुभट की निहारि मत सटकी,
यों सुंदर गोपाल की धरनि भेष भटकी।

अपने स्वामी को कैसा श्रीकृष्ण बनाया है ! और लीजिए—

सेलनु धकेला तें पठान मुख मैला होत,
केते भट भेला हैं भजाए भुव भंग मैं ;
तंग के कसे ते तुरकानी सब तंग कीनी,
दंग कीनो दिल्ली औ' दुहाई देत बंग मैं।
सूदन सराहत सुजान किरवान गहि,
धायौ धीर धार बीरताई की उमंग मैं ;
दक्खिनी पछेला करि खेला तें अजब खेल,
हेला मारि गंग मैं रहेला मारे जंग मैं।

भूषण और सूदन—भूषण एक ऐसे राजा के यहाँ था, जो हिंदुओं का गया हुआ राज, बड़ी भारी विरोधी शक्तियों के चंगुल से, बल पूर्वक छीनना चाहता था। सूदन एक ऐसे राजा के यहाँ था, जिसने मुग़ल-बादशाहत और इधर-उधर के राजों के टूटे-फूटे महलों में से, जिनकी रक्षा करने में वे बादशाह या राजा लोग अशक्त थे, लूट-खसोट और छीना-झपटी करके वीरता-पूर्वक अपना राज स्थापित किया और अपने शत्रुओं को हराया था। शिवाजी का काम सारी हिंदू-जाति के लिये था ; सूरजमल का काम अपने ही लिये था। यही इन दोनो

राजों में भेद है। जैसे सूरज के पास रहने से ज्योति अधिक प्रकाशमान होती है, चंद्रमा के पास रहने से उतनी नहीं होती, उसी प्रकार शिवाजी के संबंध के कारण भूषण को जो कीर्ति मिली, वह सूदन को सूरजमल के साथ रहने से न मिल सकी, यद्यपि दोनो एक ही विषय के और एक ही श्रेणी के कवि थे।

इस शताब्दी में पद्माकर भी बड़ा नामी कवि हो गया है। इसने कुछ वीर-रस की भी कविता की है। पद्माकर सितारा, जयपुर, उदयपुर, ग्वालियर आदि के महाराजों तथा और भी कितने ही राजों के यहाँ रहा। इसने भक्ति-विषय पर रचना की है। इसका यह कवित्त बहुत प्रसिद्ध है—

ब्याध हू ते बिहद, असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह ते गुनाही, कहो तिनमें गिनाओगे ?
स्यौरी हौं, न सूद्र हौं, न केवट कहूँ कौ न पै,
गौतमी तिया हौं जापै पग धर जाओगे।
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकार तुम
मेरे महापापन कौ पार हू न पाओगे;
झूठे ही कलंक सुनि सीता-ऐसी सती तजी,
साँचौ हौं कलंकी मोहिं कैसे अपनाओगे ?

पद्माकर ने नायिका-भेद पर 'जगद्विनोद' और अलंकारों पर 'पद्माभरण' नाम का ग्रंथ बनाया। और भी कई ग्रंथ बनाए।

इतने उत्तमोत्तम कवियों के होते हुए भी इस शताब्दी की

कविता में वह चमत्कार नहीं दिखलाई देता, जो सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी की कविता में है। सच तो यह है कि उस समय में जो रचना हो गई, बस वह हो ही गई। खड़ी बोली के नाम से चिढ़नेवाले आजकल के कुछ लोग कहा करते हैं कि खड़ी बोली में सूर और तुलसी की-जैसी रचना नहीं है। वे यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि व्रजभाषा और बैसवाड़ी को कितने सूर और तुलसी प्राप्त हुए हैं। अस्तु, इस शताब्दी के कवियों में से कई कवि अनूठी बातें कह गए हैं, परंतु तो भी शोक के साथ कहना पड़ता है कि ये लकीर के फ़क़ीर थे। इन्होंने बात कहने का कोई नया ढंग नहीं निकाला। इनका अनूठापन भी हमें तो जू[illegible]ा जँचता है। ये लोग गोड़े हुए शृंगार-रस के खेत को ही गो[illegible] में अपनी शक्तियों को स्वाहा कर गए। कितने ही कवि शब्दालंकारों के ही फेर में पड़े रह गए। यही बात पद्माकर के विषय में भी कही जाती है; पर हमारी राय में यह उस पर पूरी लगती नहीं। इन कवियों की रचनाओं में चमत्कार या चुभन न होने का कारण यह समझ में आता है कि या तो इन्होंने पुरानी ही बातें कही हैं, और या यदि कभी कुछ नई बात कही भी है, तो वही पुराने ढंग से। वैसे तो इस समय सभी विषयों पर रचना मिलती है; परंतु यह बात बेधड़क कही जा सकती है कि दौरदौरा शृंगार-रसका ही था।

इस शताब्दी के गद्य-लेखकों में से लल्लूजीलाल, सदल

मिश्र, इंशाअल्लाहख़ाँ और मुंशी सदासुखलाल के विषय में पहले ही कुछ कहा जा चुका है। इनके अतिरिक्त राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, महर्षि स्वामी दयानंद, राजा लक्ष्मण-सिंह आदि और भी कितने ही लेखक हो गए हैं, जिनकी रचना का समय विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक चला जाता है। काशी-निवासी राजा शिवप्रसादजी का जन्म संवत् १८८० में हुआ था। यह हिंदी में फ़ारसी-अरबी के शब्द ख़ूब मिलाते थे। इन्होंने इतिहास-तिमिर-नाशक, गुटका इत्यादि अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कितनी ही बहुत दिनों तक स्कूलों में पढ़ाई जाती रहीं। पं० वंशीधर वाजपेयी ने भी कई पुस्तकें इसी ढंग की लिखीं। जगह-जगह स्कूलों के खुल जाने के कारण इस समय हिंदी में स्कूली पुस्तकें ख़ूब लिखी जाने लगी थीं। स्वामी दयानंदजी का जन्म संवत् १८८१ में हुआ था। लल्लूजीलाल की तरह आप भी गुजराती ब्राह्मण थे। पहले आपका नाम मूलशंकर था। आपने आर्य-समाज की स्थापना की, और अनेक पुस्तकें हिंदी में लिखीं। आपकी और आपके समाज की कृपा से हिंदी में धार्मिक साहित्य की—विशेषकर खंडन-मंडन की पुस्तकों की— ख़ूब वृद्धि हुई। पंजाब में आज हिंदी की जो कुछ चर्चा सुन पड़ती है, उसका बहुत कुछ श्रेय आप ही को है। आगरा-निवासी राजा लक्ष्मणसिंहजी का जन्म संवत् १८८३ में हुआ था। स्फुट रचना के अतिरिक्त आपने रघुवंश, शकुंतला और मेघदूत के अनुवाद किए।

लल्लूजीलाल के पीछे आगरे की टकसाली भाषा की झलक राजा साहब की ही पुस्तकों में दीखती है।

बीसवीं शताब्दी अभी चल रही है। इसमें हिंदी की बहुत कुछ उन्नति हुई है, और आगे और भी होने की आशा है। यह आशा और भी बलवती हो जाती है, जब हम देखते हैं कि नए आदर्शों को ग्रहण करने में आजकल के हिंदी-लेखक किसी से पीछे नहीं रहना चाहते। इस शताब्दी में एक बात बड़े मार्के की हुई है। वह यह कि काव्य की भाषा व्रज, बैसवाड़ी अथवा बुंदेलखंडी न रहकर खड़ी बोली हो गई है। काव्य-रचना के लिये और भाषाओं को दबाकर किसी एक भाषा का ऊपर आ जाना संसार के साहित्य में कुछ नई या अनहोनी बात नहीं है। इस खड़े जमाने में खड़ी बोली का, जो अब तक दबी हुई थी, ऊपर आ खड़ा होना स्वाभाविक ही है। यों जिनका जी चाहता है, वे अब भी पूर्वी पहाड़ी या हरियाणी भाषा तक में रचना करते हैं; किंतु पद्य-संसार में साम्राज्य खड़ी बोली का ही है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के कवियों की लकीर पीटने के कारण पिछले कवियों की रचना उतनी चित्ताकर्षक नहीं हो सकी, परंतु आजकल भाषा के साथ भावों में भी वह परिवर्तन हुआ है कि जिधर देखिए, उधर नई-नई बातें और नए-नए ढंग दिखलाई देते हैं। गद्य और पद्य के प्रसिद्ध स्वर्गीय लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अंबिकादत्त व्यास, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, ठा० जगन्मोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, काला-

काँकर के राजा रामपालसिंह तथा रमेशसिंह, शिवसिंह सेंगर, अयोध्याप्रसाद खत्री, पं० रुद्रदत्त शर्मा, फ्रेडरिक पिंकाट, पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० रामशंकर व्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बा० बालमुकुंद गुप्त, बा० देवकीनंदन खत्री, बा० राधाकृष्ण-दास, बा० रामकृष्ण वर्मा, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० रामेश्वर भट्ट, पं० बदरीनारायण चौधरी, जानी बिहारीलालजी, पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या, पं० चंद्रधर गुलेरी, पं० मन्नन द्विवेदी, पं० गोविंदनारायण मिश्र आदि हैं, जिन्होंने अनेक मौलिक पुस्तकें लिखकर अथवा पुरानी पुस्तकों के अनुवाद करके हिंदी-साहित्य की जैसी कुछ वृद्धि की है, वह आँखों के सामने है। इन लेखकों में बाबू हरिश्चंद्र सबसे नामी हुए हैं। इन्होंने जहाँ शृंगार और कृष्ण-भक्ति की कविता की है, वहाँ देश-भक्ति और सामाजिक सुधार पर भी बहुत कुछ कहा है। सच पूछिए, तो हिंदी-साहित्य के दुर्ग पर नए ढंग का झंडा पहलेपहल इन्हीं ने गाड़ा। अपने समय के लेखकों में बाबू हरिश्चंद्र सचमुच चंद्रमा थे, जिनके चारो ओर बहुत-से लेखक तारों की तरह बैठे दिखलाई देते हैं। खेद है, इन्होंने बहुत थोड़ी ही अवस्था में संसार छोड़ दिया। इनके और इनके साथियों के ही कारण काशी हिंदी का एक मुख्य स्थान बन गई।

खेद है, राजा-रईसों में अब वह साहित्य-प्रेम नहीं रहा। हाँ, सर्वसाधारण में वह बहुत बढ़ गया है, जिसका प्रमाण

साहित्य-सम्मेलन का स्थापित होना और जगह-जगह पर नागरी-प्रचारिणी सभाओं का बनना है। इन सभाओं में काशी की सभा कुछ काम कर रही है। सम्मेलन का ध्यान प्रचार की ओर अधिक है। इससे भी बड़ा उपकार हुआ है। लेखकों और कवियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा पाए हुए लोग भी इस ओर झुक रहे हैं। हर्ष की बात है कि हिंदी में लिखना या बोलना अब फ़ैशन के विरुद्ध नहीं समझा जाता। प्रतीत होता है कि मातृभाषा से घृणा करने की हानियाँ लोगों की समझ में आ गई हैं। डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन और रेवरेंड ग्रीव्ज़-सरीखे बिदेशी विद्वानों से हिंदी की बहुत कुछ भलाई हुई और आगे भी होने की आशा है। आजकल की कविता की ओर देखिए, तो हमारे यहाँ अपभ्रंश-काल के पुराने छंदों ही में नहीं, संस्कृत, फ़ारसी और कुछ दूसरे प्रांतों के छंदों में भी रचना होती दिखाई देती हैं। कुछ लोग नए छंदों की भी सृष्टि कर रहे हैं। कविता का प्राण भाव है, न कि भाषा। अनूठे भाव के विना रचना करना कोरी तुकबंदी करना है। व्रजभाषा में भाव-शून्य और समय की गति के विरुद्ध रचना होने लगी थी, इसीलिये खड़ी बोलीउसके ऊपर आ गई। यद्यपि पुराने ढर्रे के लोग इस बात से चिढ़ गए, पर तो भी हमें यह कहते हर्ष होता है कि खड़ी बोली में अनूठे भावोंवाली रचनाएँ दिखलाई देने लगी हैं। आज 'चटाक चित्त चोरिकै कपाट पट्ट' दे जानेवाली नायिका

की चिंता कोई नहीं करता, आज अपने देश और जाति को जगाने की चिंता है। नए आदर्शों के साथ नए भावों, नए ढंगों का स्वागत किया जा रहा है। विशेषकर ईसवी सन् १९०६-०७ से, जब स्वदेशी आंदोलन चला था, इधर विशेष जागृति दिखाई देती है। पिछले समय में हिंदी के फ़ारसी-अरबी-शब्दों से भरे रूप को बादशाहों और नवाबों ने अपनाया था, जिसके कारण हिंदी से अलग रहकर उसने ख़ूब उन्नति की है, और अब भी करता जा रहा है। हिंदी के बराबर पुराना और अधिक साहित्य, एकाध द्राविड़ी भाषा को छोड़कर, भारत के और किसी भी प्रांत की भाषा में नहीं है। हिंदी का यह साहित्य हिंदोस्तान-भर के ही लिये नहीं, एशिया-भर के लिये गौरव की वस्तु है; क्योंकि एक पराधीन जाति की लेखनी से निकला है। रहा आधुनिक या अप-टु-डेट साहित्य, सो जिस गति से आजकज उसकी वृद्धि हो रही है, उससे आशा होती है कि हमारा यह साहित्य भी किसी और प्रांतीय भाषा के साहित्य से कम न रहेगा। यह शुभ लक्षण है। कई विश्वविद्यालयों में हिंदी को स्थान मिल गया है, कुछ में मिलता जाता है। इससे अँगरेज़ी पढ़े-लिखों का ध्यान अपनी मातृभाषा की सेवा की ओर और भी खिंचेगा, जिससे साहित्य की और भी वृद्धि होगी। पुराने समय में मुसलमानों ने हिंदी की बहुत कुछ सेवा की है। दो-चार अच्छे लेखक अब भी मौजूद हैं। परंतु अधिकतर मुसलमान अब

हिंदी-द्वेषी ही हैं। इससे उन्हें जो कुछ लाभ होगा, उसे वे ही जान सकते हैं, हम नहीं। दूसरे प्रांत के लोग भी हिंदी का उतना ही आदर कर रहे हैं, जितना पहले करते थे--भेद इतना ही है कि पहले यह आदर धार्मिक कारणों से होता था, अब राजनीतिक कारणों से होता है। सिंध और मदरास तक में आज हिंदी की चर्चा हो रही है।

गान-विद्या की कृपा से भी हिंदी का प्रचार और उसके साहित्य की वृद्धि बहुत कुछ होती रही है। पहले कभी यह विद्या केवल हिंदुओं के ही हाथ में थी; वैष्णव संप्रदायों ने इसको बहुत कुछ जीवित रक्खा तब मुसलमान इस देश में आए, तब उन्होंने इस कला को सीखा, और इसका प्रचार किया। मुसलमान गवैयों को बात जाने दीजिए, स्वयं बादशाहों और नवाबों तक ने हिंदी में ठुमरियाँ, दादरे आदि बनाए हैं। अकबर, सलीम और शाहज़ादे ख़ुसरो के बनाए हुए गीत हमने एक बहुत पुरानी, हाथ की लिखी, पोथी में, एक सज्जन के पास, देखे हैं। एक नामी कत्थक ने एक बार हमसे कहा था कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह को भैरवी की रागिनी सिद्ध थी, अर्थात् जिस समय नवाब अपने कमरे में बैठकर भैरवी अलापते थे, उस समय सफ़ेद साड़ी पहने और फूल हाथ में लिए (जैसा कि संस्कृत की पुरानी पुस्तकों में भैरवी का स्वरूप कहा गया है) एक स्त्री उस कमरे में ताल पर नाचती हुई

दिखलाई दे जाया करती थी। यह बात भले ही कल्पित हो, परंतु इससे यह प्रकट हो जाता है कि नवाबों ने गान-विद्या का कितना आदर किया था। आज भी हमारे मंदिरों में ठाकुरजी के सामने मुहम्मदशाह रँगीले, सनद, क़दर आदि के बनाए हुए गाने गाए जाते हैं। दूसरी जातियों के लोग भी हिंदी की चीजें बहुत पसंद करते हैं—दूसरे प्रांतों के हिंदुओं का तो कहना ही क्या! मथुरा-वृंदावन के मंदिरों में दूसरे प्रांतों के तीर्थयात्री गाना सुनकर अपना जन्म सफल समझते हैं। सदा से यही होता आया है कि जिस भक्त को एक बार इसकी हवा लग गई, वह इसी का हो रहा। पुराने समय में बंगाल में 'ब्रजबुलि' में रचना की गई, गुजरात में ब्रज भाषा और खड़ी बोली में। इसी तरह महाराष्ट्र और मदरास तक में भक्त कवियों ने रचनाएँ कीं। दूसरे प्रांतों की पुरानी रचनाओं में सूर और तुलसी की प्रशंसा मिलती है। गुजरात में नरसी महता, हीराचंद कानजी, दयाराम आदि ने हिंदी में बहुत कुछ रचना की है। दयाराम ने तो बिहारी के ढंग पर एक सतसई तक लिख डाली है। कोई चार सौ वर्ष पुरानी, गोपाल भट्ट नाम के एक मदरासी सज्जन की रचना की बानगी देखिए—

देख री सखी, कंजनयन कुंज में बिराजे हैं;
बाम में किशोरी गोरी,
आलस अंग अति विभोरी,
हेरि श्याम नयन, चंद मंद-मंद हाँसे हैं।

सारी शुक करत गान ,
भ्रमरा भ्रमरी धरत तान ,
सुनि-सुनि धुनि उठि बैठत चोर चपलगात हैं ।
श्रीगोपाल भट्ट आस ,
वृंदावन कुंज बास ,
सयन स्वपन नयन हेरि भूलो मन आप हैं ।

महाराष्ट्र-देश में हिंदी-गीतों का विशेष प्रचार हुआ । वहाँ नामदेव, ज्ञानेश्वर, मोरोपंत, भानुदास, तुकाराम और शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास ने तो रचना की ही, राजा-महाराजा लोगों ने भी की । महार ष्ट्र शिवाजी और महादाजी सिंधिया-सरीखे लड़ाकू राजा भी हिंदी में रचना करते थे । पंजाब के सिक्ख गुरुओं के विषय में तो पहले ही कहा जा चुका है । अपने धर्म के प्रचार और नित्य की प्रार्थना के लिये ईसाई मिशनरियों ने भी हिंदी को प्रारंभ ही से अपनाया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत के सहारे हिंदी की पहुँच बहुत दिनों से बहुत दूर-दूर तक होती रही है, और दूसरे प्रांत के लोग भी इसमें रचना करने में सदा से अपना गौरव समझते रहे हैं । वैसे चाहे कितनी ही बातों में मतभेद बना रहे, परंतु गाने के अखाड़े में जो मेल हिंदू-मुसलमानों का हुआ, उसे अभी तक कोई मेट नहीं सका । यह इसी की बदौलत है कि आज मंदिरों में ग़ज़लें और मज़ारों पर ठुमरियाँ सुनाई देती हैं । इस आनंद को वह लूट सकता है, जिसके मन में मैल न हो ।

पहले समय में रास-मंडलियों ने भी हिंदी-भाषा का प्रचार दूसरे प्रांतों में खूब किया था। खेद है, अब इन मंडलियों ने अपना पुराना आदर्श छोड़ दिया है। अब ये धार्मिक लीलाएँ न करके सांगीत पूरनमल, नौटंकी या शंकरगढ़-संग्राम करती हैं। किंतु संतोष की बात है कि कलकत्ते और बंबई में नाटक-कंपनियाँ हिंदी के नाटक खेलकर अच्छा काम कर रही हैं। इससे हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना होने लगी है, जिससे साहित्य की वृद्धि हो रही है। इन कंपनियों में जो हिंदी-नाटक खेले जाते हैं, उनमें दिलों की छीना-झपटी या शृंगार-रसिकों की चोचलेबाज़ी अब उतनी नहीं रहती। समझदार नाटक। लेखक अब अच्छे आदर्शों की ओर झुके दिखाई दे रहे हैं, यद्यपि टका-पंथी नाट्यकार अब भी अश्लीलता का पिंड छोड़ना नहीं चाहते, और न भाषा-शुद्धि की ओर ही ध्यान रखते हैं।

हमारे उपन्यासों में भी ऐयारी के बटुए अब ख़ाली दिखाई देते हैं। हमारे यहाँ दूसरे प्रांतों की भाषाओं से उपन्यासों के अनुवाद आवश्यकता से अधिक हो रहे हैं, परंतु हर्ष की बात है कि मौलिक उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं, और अच्छे लिखे जा रहे हैं।

हमारे यहाँ जैसी सुंदर मासिक पत्रिकाएँ निकल रही हैं, वैसी एकाध प्रांतीय भाषा को छोड़कर और किसी में भी नहीं निकल रही हैं। कहने का मतलब यह कि जिधर देखिए, उधर